CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रो. सुरेन्द्र बारलिंगे : दर्शनचिन्तन

परामर्श (हिन्दी)

खण्ड २०, अंक १

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिंदी)

- पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की चिंतनपरक त्रैमासिक पत्रिका (नूतनमालिका) (भूतपूर्व तत्त्वज्ञान मन्दिर हिंदी, अमलनेर)

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

दिसंबर ९८- फेब्रु.९९ भारतीय सौर पौष शके १९२०

संस्थापक संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे

प्रधान संपादक : सुभाषचंद्र भेलके

संपादक मण्डल :

बलीराम शुक्ल
राजेन्द्र प्रसाद
चंद्रकांत बांदिवडेकर
रामजी तिवारी

सलहकार संपादक मण्डल :

विजयकुमार भारद्वाज
भुवन चण्डेल
आर्. बालसुब्रमणिअन
छाया राय
अशोक वोहरा
अशोक केळकर

- प्रकाशनार्थ लेखनसामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए:
  प्रधान संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११००७

- **सदस्यता शुल्क** :

आजीवन	संस्थाओं के लिए	रु. १५००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ६००/-
वार्षिक	संस्थाओं के लिए	रु. ८०/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ६०/-
एक प्रति का मूल्य		रु. २०/-

- सदस्यता शुल्क मनीऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा ही पत्रिका के पते पर भेजा जाए। (धनादेश से भुगतान में रु.१० अधिक जोड दें)
- आजीवन सदस्यता शुल्क एक या दो समान किश्तों में भेजा जा सकता है ।
- अंक न मिलने की सूचना अंक प्रकाशित होने बाद एक महिने के भीतर मिलने पर, अंक बचे हो तो, पुनः भेजा जाएगा ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संपादकीय

आदरणीय प्रो. बारलिंगेजी ने हमसे अंतिम बिदाई लेने की घटना को इस महीने की उन्नीस तारीख को एक साल पूरा हो रहा है। उन की दृष्टि, प्रेरणा तथा अथक प्रयत्नों से शुरु हुई, वृद्धिंगत हुई इस पत्रिका भी दो दशकों का अवधि पूरा करने जा रही है। पिछले साल हम ने उन की स्मृति में श्रद्धांजलि अर्पित करने के हेतु एक विशेषांक प्रकाशित किया था जिस में उन्हीं के लेख थे। यही अंक स्वतंत्र पुस्तक रूप में भी आज उपलब्ध है। उन के दार्शनिक अंतरंग का सजीव चित्र प्रस्तुत करनेवाले उस अंक का मर्मज्ञों ने विशेष स्वागत किया। उन के प्रति अपनी ओर से आदराञ्जलि प्रस्तुत करने के हेतु उन पर लिखे लेखों पर आधारित एक विशेषांक प्रकाशित करने के उत्स्फूर्त प्रस्ताव आये। अतः हम ने सार्वजनिक तथा विशेष वैयक्तिक आवाहन भी किये। फलस्वरूप हमें कुछ लेख प्राप्त हुये। उन्हीं लेखों को लेकर प्रस्तुत विशेषांक बनाया गया है। प्रो. बारलिंगेजी का एक ग्रंथ उनके जाने के बाद प्रकाशित हुआ। यह ग्रंथ अंग्रेजी में है। हमारी विशेष नीति के अनुसार इस ग्रंथ की समीक्षा को भी हम इस अंक में स्थान बना सके हैं। प्रो. बारलिंगेजी के कुछ निकटवर्ती मनीषियों ने अपने लेख भेजने का मंतव्य व्यक्त किया था। वे लेख प्राप्त होने के बाद अगले अंकों में यथासंभव प्रकाशित किये जाएँगे।

भारतीय दार्शनिक परंपरा आधुनिक काल में, विशेषकर पिछली और इस शती में पुनर्जागरण के बाद विकसित होती दिखाई दे रही है। इस में कुछ योगदान पिछले कुछ दशकों में उच्च शिक्षासंस्थानों में कार्यरत अध्यापकों, संशोधकों तथा मनीषियों का रहा है। यह भी एक परंपरा बनती दिखाई दे रही है। इस परंपरा का आलोडन करना हमारा कर्तव्य है। इस में अपने स्वतंत्र विचारों से इस परंपरा को तथा उस के अध्ययन को विशेष रुख देने के प्रयास भी होते रहे हैं। इन प्रयासों से ठीक तरह से समझकर उन का मूल्यांकन करना भी हमारा एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। दार्शनिक चिंतन के विश्व में प्रो. बारलिंगेजी ने अपना एक विशेष स्थान बना लिया है। दर्शन को अपने मूलरूप में देखने की मूलगामी दृष्टि लेकर उन्होंने चिंतन किया और अपनी प्रतिभा के आधार पर दर्शन में योगदान भी किया। दर्शन की करीबन सभी शाखोपशाखाओं में उन का चिंतन रह चुका था। हम चाहते हैं कि उन के लेखन के सभी अंगों का परिशीलन सांप्रतीय अध्येता करें ताकि उन के योगदान का सही मूल्यांकन हो सके।

आस्था के बिना दर्शन हो पाना असंभव है। यह आस्था हमें हमारा परिवेश, हमारी परंपरा, हमारी विरासत और हमारे अपनों के प्रति होनी जरुरी है। यही आस्था

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मनुष्य में दार्शनिकता के रुख पैदा कर सकती है और यही आस्था हमारे जीवन का असली सामर्थ्य बन सकती है। इस आस्था को मूर्त स्वरूप प्रदान करने की कोशिश करना हमारी आज की चुनौती है। हमने सोचा, जिस पीढ़ी ने हमें अपने कंधों पर बिठाकर हमारे क्षितिजों को विशाल बनाया उस पीढ़ी के प्रो. बारलिंगे जैसे मूर्धन्य मनीषियों के प्रति, उन के दार्शनिक योगदान के प्रति अपनी आस्था प्रकट कर के हम इस ऋण को अपने माथे का गौरव बनाएँ। इस आस्था को सजग रखना सचमुच ही आज के लिए बडी चुनौती है। हम आशा करते हैं कि हमारी पीढी इस आस्था के ऋण को अवश्य निभाएगी। उसी से परंपरा बनती जाती है।

– सुभाषचन्द्र भेलके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रोफेसर बारलिंगे की दार्शनिक मान्यताएँ : एक अनुशीलन

आचार्य बारलिंगे एक ऐसे समकालीन भारतीय दार्शनिक थे, जो सच्चे अर्थो में भारतीय दार्शनिक परम्परा के वाहक थे, क्योंकि उनका दर्शन और जीवन एक ही सिक्के के दो पहलू थे । प्रायः अकादमिक दार्शनिक का चिंतन बौद्धिक व्यायाम तक सीमित रहता है, किन्तु स्वयं उनके ही शब्दों में "उनका दर्शन, उनके अनुभव तथा उन कार्यों का (Activities) अमूर्त रूप है, जिन्हें उन्होंने समय-समय पर क्रियान्वित किया था, और उनके कार्य उनके दर्शन की ही अभिव्यक्तियाँ थे[1]"। वस्तुतः वे दर्शन को एक गतिविधि (Movement) मानते थे । ऐसी गतिविधि जो मूलतः मानव-केन्द्रित है । उनका स्पष्ट मत था कि दर्शन आश्चर्य से नहीं, जीवन की समस्याओं से उदित होता है। वे दर्शन को "दार्शनिक चिंतन" से परिभाषित करते हैं, जिसे वे एक प्रकार का कर्म कहते हैं । कर्म या क्रिया मानने के कारण वे इसमें गति मानते हैं, और दर्शन को "चिंतन-नैरन्तर्य" घोषित करते हैं । फलस्वरूप दार्शनिक प्रणालियों को दर्शन मानने का विरोध करते हैं ।

जहाँ तक दार्शनिक प्रतिक्रिया का प्रश्न है, प्रो.बारलिंगे केवल एक प्रतिबद्धता को स्वीकार करते हैं और वह है - सत्य के प्रति प्रतिबद्धता। निषेधात्मक रूप से इस प्रतिबद्धता को वे "रूढ़िवादी न होने" की शब्दावली में समझाते हैं।

वे मानते हैं कि सत्य की प्रतिबद्धता के साथ कुछ ऐसे विश्वास अनिवार्यतः जुड़े होते हैं, जिन्हें सत्य के अनुसंधान हेतु पहले ही स्वीकार कर लेना अपेक्षित है, क्योंकि उनके मतानुसार दर्शन का प्रासाद इन्हीं विश्वासों पर आधृत होता है। इतना ही नहीं, वे यह भी मानते हैं, कि ऐसे सभी विश्वास सत्य होते हैं तथा एक वस्तुस्थिति को स्पष्ट करते हैं । प्रश्न उठता है कि आखिर ऐसे कौन से विश्वास हैं? पहले विश्वास का संबंध ज्ञान से है । प्रो. बारलिंगे मानते हैं कि जानने की प्रक्रिया के प्रति चेतन हुए बिना भी किसी वस्तु या स्थिति को जाना जा सकता है । तात्पर्य यह है कि जानना इस बोध के बिना भी संभव है कि मैं जान रही हूँ या मुझे ज्ञान हो रहा है। इसे प्रो.बारलिंगे ने (Pre-knowing)[2] संबोधित किया है। ये कैसे संभव है? इसके उत्तर में उनका कहना है कि सहज ज्ञान की क्षमता के कारण यह संभव है ।

सत्य की खोज में पूर्वमान्य द्वितीय विश्वास, प्रो. बारलिंगे के मतानुसार भाषा सीखने से संबंधित है । उनकी मान्यता है कि सभी व्यक्ति प्रायः समान तरीके से विभिन्न भाषाएँ सीखते हैं । इसका कारण उनकी दृष्टि में यह है कि सभी भाषाएँ किसी-न-किसी अर्थ में मानव-स्वभाव में निहित हैं। अपनी इस मान्यता के समर्थन में ये संगीत व नृत्य का उदाहरण देते हैं । ताल और लय सभी प्रकार के नृत्य एवं संगीत में पाई जाती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किसी नृत्य या संगीत में ताल या लय है अथवा नहीं, इसे व्यक्ति स्वयं, बिना किसी की सहायता के, आन्तरिक रूप से जान लेता है ।

इन विश्वासों के अतिरिक्त प्रो. बारलिंगे के दार्शनिक चिंतन की अन्य पूर्वमान्यताएँ भी हैं, जो उनकी विभिन्न दार्शनिक अवधारणाओं को स्पष्ट करती हैं।

वे बताते हैं कि जब मनुष्य दुनिया में आता है, तो न केवल प्राकृतिक जगत् को अपितु सामाजिक जगत् को भी "प्रदत्त" मानता है । प्रायः मनुष्य जगत् को सत्तात्मक मानता है । ज्ञातव्य है कि प्रो.बारलिंगे दो प्रकार के जगत् में भेद करते हैं। प्रथम को वे "प्रदत्त जगत्" तथा दूसरे को "मानवसृष्ट जगत्" (फेब्रिके[illegible] वर्ल्ड) अथवा मानवकेन्द्रित जगत् कहते हैं । उनके मतानुसार मनुष्य जगत् को जाननें तक सीमित नहीं रहता, वह जगत् का निर्माण भी करता है । यह संस्कृति, सभ्यता व विज्ञान का जगत् है । यह अस्थायी है अर्थात् पहिले नहीं था, अभी है और बाद में नहीं होगा। अतः यह "मिथ्या" की श्रेणी में आता है, इस जगत् को वे काव्य एवं कला का जगत्, सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था का जगत् , आदर्शों और मूल्यों का जगत् संबोधित करने के साथ-साथ "नामरूपात्मक" जगत् भी कहते हैं ।[3] यहाँ जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि "प्रदत्त जगत्" अर्थात् मौलिक पदार्थों से युक्त जो स्वतंत्र सत्तात्मक जगत् है, क्या वह "नामरूपात्मक" नहीं है? पंचमहाभूतों से निर्मित यह जगत् क्या प्रपंच[illegible] नहीं है? तब मानवसृष्ट जगत् को ही ये नामरूपात्मक क्यों कहते हैं? इसका स्पष्ट उत्तर प्राप्त नहीं होता, पर यह संभावना अवश्य उभर कर सामने आती है कि चूँकि नामकरण की प्रक्रिया मानव की विशेषता है, संभवतः इसीलिये उन्होनें ऐसा कहा हो, परन्तु जहाँ तक "रूप" का प्रश्न है, जैसे नदी, पर्वत, मैदान आदि का रूप, तो वहाँ उनके मानवसृष्ट होने का प्रश्न नहीं उठता । इस संदर्भ में उनका यह मत प्रस्तुत किया जा सकता है कि प्राकृतिक जगत् एक है, पर मनुष्य इसमें अनेकता के बीज बोता है ।[4]

स्वतंत्र सत्तात्मक जगत् को वे काल-सापेक्ष मानते हैं, अतः लिखते हैं कि यह भूत तथा भविष्य तक विस्तृत है । कहने का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि यह प्रदत्त जगत् पहिले भी था, अब भी है और भविष्य में भी रहेगा । प्रो. बारलिंगे मनुष्य को इस स्वयंसत्तात्मक जगत् का एक संघटक मानते हैं । फलस्वरूप उसमें उन्हीं गुणों का अस्तित्व मानते हैं, जो इस जगत् में भी हैं । अर्थात् गुणों की दृष्टि से जगत् व मनुष्य में भेद नहीं करते । प्रश्न उठता है कि ऐसे समान गुण कौन-कौन से हैं,? संभवतः इनका तात्पर्य त्रिगुणात्मकता एवं पंचतत्त्वों से मानवशरीर के निर्माण से रहा हो । प्रो. बारलिंगे मनुष्य व जगत् में "अंश-अंशी" संबंध की स्पष्ट घोषणा करते हैं ।

जगत् को जानने की क्षमता रखने के कारण वे व्यक्ति को ज्ञाता मानते हैं । वे जगत् को जानने के अतिरिक्त जगत् का "अनुभव करने" और जगत् पर विश्वास करने की मानवीय प्रक्रियाओं की भी चर्चा करते हैं । ज्ञाता एक नहीं अनेक हैं, क्योंकि मनुष्य अनेक हैं, जिनमें अन्तर्वैयक्तिक संबंध है । मनुष्य केवल जगत् को ही नहीं जानना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चाहता, वह जगत् में अपनी स्थिति व जगत् के साथ अपने संबंध को भी समझना चाहता है ।

जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि एक ओर प्रो.बारलिंगे जगत् को अंशी व मनुष्य को अंश या संघटक मानते हैं, और दूसरी ओर मनुष्य द्वारा जगत् को जानने की बात करते हैं, तो क्या अंश संपूर्ण अंशी का ज्ञान प्राप्त कर सकता है? इसका सुनिश्चित उत्तर प्राप्त नहीं होता, किन्तु कुछ अंश तक आगामी विवरण में उत्तर खोजा जा सकता है । उनकी यह मान्यता सत्य है कि जब सामान्य व्यक्ति जगत् को समझता है, तो उसे एक संगठित पूर्ण के रूप में समझता है, जबकि दार्शनिक जगत् को अंशों में विभेदित करके समझता है । दार्शनिक तब गलती करता है, जब वह विभेदन/परिच्छेदन की इस क्रिया को "पृथक्करण" की क्रिया मान लेता है । प्रो. बारलिंगे की दृष्टि में विभेदन की क्रिया से वस्तु की जटिलता का ज्ञान हो जाता है किन्तु जब दार्शनिक अपनी तात्त्विक दृष्टि से कारण इस ज्ञानमीमांसीय स्थिति को लाँघकर, यह सोचने लगता है कि वह विश्लेषित अंशों को परस्पर जोड़कर पुनः जगत् निर्मित कर सकता है, तो यह भूल है, क्योंकि ऐसा योग हमें मात्र एक यांत्रिक संरचना दे सकती है, जबकि दृश्य जगत् ऐसा नहीं है । इतना ही नहीं कोई भी दार्शनिक चाहे वह विश्लेषण की पद्धति को कितना ही क्यों न अपनाये, किसी भौतिकशास्त्री अथवा मैकेनिक की तरह किसी वस्तु को विच्छेदित नहीं कर सकता, क्योंकि इसका विच्छेदन मात्र संप्रत्ययात्मक होगा ।

प्रो. बारलिंगे दर्शनशास्त्र को मूलतः मानव-केन्द्रित मानते हैं, यद्यपि वे यह भी स्वीकार करते हैं कि दर्शनशास्त्र विश्व-केन्द्रित जगत् की ओर भी संकेत करता है । उनकी मान्यता है कि मानव-केन्द्रित जगत् सुनिश्चित रूप से विश्वजनित (Cosmogenic) है । उनके मतानुसार मानवकेन्द्रित जगत् और विश्वकेन्द्रित जगत् में जो भेद है, वह मनुष्य को ज्ञाता, द्रष्टा आदि बनाता हैं ।

प्रो. बारलिंगे मनुष्य को कर्म के एक समग्र या "गेस्टाल्ट" के रूप में परिभाषित करते हैं । वे गति व कर्म के भेद को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि गति केवल एक स्थान से दूसरे स्थान अथवा एक कालावधि से दूसरी कालावधि तक, जो परिवर्तन परिलक्षित होता है, उसे प्रदर्शित करती है । इस परिवर्तन का सचेतन होना अनिवार्य नहीं है, जबकि कर्म चेतना के साथ-साथ निर्णय लेने की भी अपेक्षा रखता है, और निर्णय लेना चेतना से आत्मचेतना तक के विकास को दर्शाता है । इस तरह "कर्म" शब्द का प्रयोग आत्म-चेतन प्राणी या मनुष्य के संदर्भ में ही संभव है ।

प्रो. बारलिंगे की दृष्टि में केवल कर्म ही नहीं, अपितु मानव की विभिन्न क्रियाएँ भी आत्मचेतन क्रियाएँ हैं । उदाहरणार्थ, भाषा सीखने की क्रिया हो या विभिन्न कलाओं को सीखने की क्रिया, सभी में आत्मचेतना अपेक्षित है । यहाँ तक कि वैज्ञानिक सिद्धांत की खोज की क्रिया भी प्रो. बारलिंगे के मतानुसार आत्मचेतन क्रिया है । कैसे? यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है । बारलिंगे जी के अनुसार मानव यथार्थ को जानना चाहता है, और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस प्रयास में वह दैशिक अन्तरालों के कारण स्थानिक दृष्टि से परस्पर दूरस्थ चीजों में "भेद" करता है। तत्पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वे चीजे "पृथक्" हैं।

दूसरी ओर, उसे एक ही वस्तु की विभिन्न विशेषताओं का भी बोध रहता है। इन विशेषताओं के संबंध में वह यह जानता है कि यद्यपि ये एक दूसरे से भिन्न हैं, तथापि उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। प्रायः "भिन्नता" को बौद्धिक अवधारणा और "पृथकता" को सत्तात्मक संप्रत्यय माना जाता है। किन्तु प्रो. बारलिंगे दोनों को ज्ञानमीमांसीय मानते हैं। उनका कहना है कि जब हम जगत् को जानते हैं अर्थात् जब हमारे वह ज्ञान का विषय बनता है, तब हम जागतिक पदार्थों को एक दूसरे से पृथक् करने लगते हैं, तथा पदार्थों का विभेद जानना प्रारंभ करते हैं। इस तरह प्रो. बारलिंगे ज्ञानमीमांसीय संदर्भ में ही "भेद करने योग्य पदार्थों-"(Distinguishables) एवं "पृथक करने योग्य पादार्थो" (Separables) की चर्चा संभव मानते हैं"। ज्ञातव्य है कि उक्त दो कोटियों के भेद ने प्रो. बारलिंगे के दार्शनिक चिंतन को अत्यधिक प्रभावित किया है।

जब मनुष्य स्वतंत्र सत्तात्मक विषय को जानने की तकनीक में कुशल हो जाता है, अर्थात् किसी चीज को "भेदनीय" (Distinguishable) किन्तु अपृथक् के रूप में, और किसी अन्य चीज को भिन्न एवं पृथक् के रूप में जानने लगता है, तब वह जानने की अपनी तकनीक का विस्तार अन्-अस्तित्ववान् (अस्तित्वविहीन) वस्तु तक करने में असमर्थ हो जाता है। सरल शब्दों में, वह एक ऐसी वस्तु की कल्पना करने में समर्थ हो जाता है, जिसका अस्तित्व न हो। उदाहरणार्थ यूनिकॉर्न, नृसिंहअवतार आदि। प्रो. बारलिंगे की मान्यता है कि एक बार जब मनुष्य ज्ञान की तकनीक सीख लेता है, तो वह अपने चिंतन को "तथ्यों से परे मूल्यों"तक विस्तृत करने में सक्षम हो जाता है।

प्रो. बारलिंगे के अनुसार केवल बाह्य भौतिक पदार्थ ही ज्ञान का विषय नहीं होते, अन्य प्रकार के विषय भी ज्ञेय होते हैं। प्रो. बारलिंगे मानते हैं कि किसी ज्ञेय का ज्ञेयत्व (Thatness of that) ज्ञाता के सांस्कृतिक एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण द्वारा निर्धारित होता है। उदाहरणार्थ कुर्सी,टेबिल, स्टूल, आदि हमारे द्वारा विभिन्न प्रकार के फर्निचर के रूप में जाने जायेंगे। पर एक आदिवासी के लिये वे लकड़ी के टुकड़े हो सकते हैं। इस संदर्भ में यह स्मरणीय है कि यहाँ दोंनों कथन सत्य हो सकते हैं। इस तरह व्यावहारिक और मानवीय रुचि को प्रो. बारलिंगे महत्त्वपूर्ण मानते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार, यही मानवीय ज्ञान के क्षितिजों को निर्धारित करती है। प्रश्न उठता है कि इस रुचि का स्वरूप क्या है? इसके उत्तर में प्रो. बारलिंगे अनिश्चित हैं इसलिये वे कहते हैं कि स्वरूप के विषय में वे सुनिश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते, पर इतना सुनिश्चत है कि रुचि का कुछ-न-कुछ संबंध आत्मचेतना से है।

आत्मचेतना को प्रो. बारलिंगे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं, क्योंकि इसके कारण

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही सभी प्रकार की क्रियाएँ ज्ञान का विषय बन सकती हैं। जानना, इच्छा करना, आशा करना, विश्वास करना, मूल्यांकन करना, सीखना, सृजन करना आदि अनेक व्यावहारिक क्रियाएँ हैं, जिन पर अनुचिंतन या रिफ्लैक्शन संभव है। दृष्टव्य है कि उपयुक्त क्रियाओं को जानना "द्वितीय क्रम" का जानना है, जिसे प्रायः प्रथम स्तर के जानने से भ्रमित कर दिया जाता है।

आत्मचेतना कोई स्थिर अवस्था नहीं है। प्रो. बारलिंगे के अनुसार आत्मचेतना के स्तर हो सकते हैं। यह उच्च से उच्चतर और उच्चतर से उच्चतम की ओर विकसित हो सकती है। यह आत्म-चेतना ही हमें संसार के अन्य प्राणियों से भिन्न व श्रेष्ठ सिद्ध करती है। प्रो. बारलिंगे के मतानुसार आत्मचेतना का बुद्धि-उपलब्धि या (I. Q.) से कोई संबंध नहीं है। इसे व्यक्तित्व-उपलब्धि[६] (सूचकांक) कह सकते हैं। परिपक्वता और कुछ नहीं इस व्यक्तित्व-उपलब्धि की ही विकसित अवस्था है। प्रो. बारलिंगे के उपर्युक्त मत से सहमत हुआ जा सकता है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं, जिनकी आत्मचेतना प्रखर हो, किन्तु बुद्धि-उपलब्धि सामान्य या उससे भी कम हो। आत्मचेतना को प्रो. बारलिंगे समझने की अर्न्तदृष्टि के लिये उत्तरदायी मानते हैं। आत्मचेतना के कारण ही अनुचिंतन संभव है।

प्रो. बारलिंगे आत्मचेतना के विकास को अपनी तरह से समझाते हुए कहते हैं कि मानव-समाज में और इसलिये जैवकीय समाज में मनुष्य सहित अन्य प्राणी जन्म लेते, जीते और समाप्त हो जाते हैं। इन सभी प्राणियों का जीवन काल-सापेक्ष है, और उनके मूर्त व्यवहार का विवरण इतिहास में प्राप्त होता है। यह जैवकीय इतिहास निरंतर आगे बढ़ता है और इसकी वृद्धि की स्थितियाँ प्राणियों की शारीरिक रचना संबंधी अवस्थाओं को निर्धारित करती हैं। किसी एक अवस्था पर पहुँचकर प्राणियों की चेतना आत्मचेतना के रूप में विकसित होती है। फलस्वरूप प्राणी अपने व्यवहार पर मनन या अनुचिंतन प्रारंभ करते हैं। प्रो. बारलिंगे के मतानुसार अनुचिंतन के परिणामस्वरूप ही समाज निर्मित होता है, किन्तु दूसरी ओर, यही अनुचिंतन या आत्मचेतना विभिन्न समाजों के पृथकीकरण के लिये भी उत्तरदायी है।

आत्मचेतना या अनुचिंतन की क्षमता निरंतर विकसित होती हुई विभिन्न अवस्थाओं को जन्म देती है। इनमें जो परवर्ती अवस्था होती है, वह पूर्ववर्ती अवस्था की कुछ विशेषताओं को धारण करने के साथ-साथ उसमें कुछ जोड़ती भी है। प्रो. बारलिंगे के अनुसार जोड़ने की प्रवृत्ति के कारण ही हम अपने विचारों को व्यवस्थित कर पाते हैं, और यही प्रवृत्ति सिद्धांतों एवं दार्शनिक प्रणालियों के निर्माण में सहायक है। दर्शनशास्त्र के संबंध में अपना स्पष्ट मत व्यक्त करते हुए प्रो. बारलिंगे कहते हैं कि दार्शनिक चिंतन और कुछ नहीं, जगत् में जो कुछ भी घटता है, उस पर अनुचिंतन है, मनन है; इसीलिये इसे अन्वीक्षा का द्वितीय चक्र कहते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रो. बारलिंगे दार्शनिक चिंतन में कल्पना को अत्यधिक महत्त्व देते हैं, क्योंकि, उनके मतानुसार, कल्पना चिंतक को अन्तर्दृष्टि के साथ-साथ सहसा प्रकाश भी प्रदान करती है। कल्पनाप्रदत्त यह अन्तर्दृष्टि और सहसा प्रकाश दार्शनिक चिंतन को जीवित रखकर हमें सत्य की खोज के लिये प्रेरित करते हैं, जबकि तंत्रीकरण या प्रणालीबद्धता दर्शन को मृत कर देती है।[७]

प्रो. बारलिंगे की दार्शनिक पद्धति विश्लेषणात्मक है, जिसके विषय में वे स्पष्ट करते हैं कि उनके द्वारा पद्धति के रूप में अपनाया गया विश्लेषण न तो संप्रत्ययात्मक विश्लेषण हैं और न ही भाषा-विषयक। वे अपनी पद्धती को एक सर्वथा नवीन नाम "जिनी-एनालिसिस" (Geni-Analysis)[८] देते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार चिंतन काल-सापेक्ष है, अतः दार्शनिक चिंतन में समय अथवा इतिहास की पूर्ण अवहेलना संभव नहीं है।

प्रो. बारलिंगे की दार्शनिक मान्यताओं के उपयुक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निगमित होता है कि दर्शन के स्वरूप, दार्शनिक पद्धति के प्रारूप के विषय में वे निःशंक थे, तथा उन्होंने अपनी दार्शनिक प्रतिबद्धताओं (जिन्हें मैंने मान्यतायें माना है) को स्पष्ट करने के साथ-साथ उनके पुष्टीकरण का भी सफल प्रयास किया है। वे दार्शनिक चिंतन में बुद्धि की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करते हुए भी, सृजनात्मक कल्पना व तज्जन्य अन्तर्दृष्टि एवं कल्पना की तरंगों की असंदिग्ध महत्ता की ओर भी ध्यान आकर्षित करते हैं। उनके द्वारा किया गया "भेद करने योग्य" और "पृथक् करने योग्य" का विभाजन दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण व विचारोत्तेजक है। भारतीय दार्शनिक परम्परा के वाहक प्रो. बारलिंगे ने निःसंदेह दर्शन के प्रति अपने समर्पण तथा व्यावहारिक कर्मठ जीवन में अपनी दार्शनिक प्रतिबद्धताओं के अनुपालन के माध्यम से एक अविस्मरणीय अतिविशिष्ट स्थान बनाया है।

डॉ. छाया राय
दर्शन विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर

टिप्पणियाँ

१. कन्फैशन्स एण्ड कमिटमैन्ट्स, प्रो. एस.एस. बारलिंगे, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली, १९९४ पृ. ३१
२. वही, पृ. ३७
३. वही, पृ. ४३
४. वही, पृ. ३९
५. वही, पृ. ३९
६. वही, पृ. ४१
७. वही, पृ. ५०
८. वही, पृ. ५१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रो. सुरेन्द्र बारलिंगे : दार्शनिक लेख-संसार

डॉ. सुरेन्द्र बारलिंगेजी काफी अर्से से मराठी, हिंदी तथा अंग्रेजी इन तीन भाषाओं में लिखते रहे हैं। उन की प्रतिभा एवं विचार-सूत्र इन तीनों भाषाओं के माध्यम से लिखे साहित्य में एक ही रहा है। प्रायः वे एक दार्शनिक के रूप में देश-विदेश में ज्ञात एवं ख्यातिप्राप्त हैं। लेकिन उन की दर्शन विषयक धारणा व्यापक होने की वज़ह से उन का लेखन एवं क्रियाकलाप इन में उन के व्यक्तित्व के विविध आयाम नजर आते रहते हैं। मैं यहाँ उनके हिंदी तथा मराठी भाषा में किये लेखन का ही संक्षिप्त परिचय इस लेख में प्रस्तुत करने जा रहा हूँ।

तर्कशास्त्र, न्यायशास्त्र एवं ज्ञानशास्त्र इन से जुडे विषयों पर उन्होंने मौलिक लेखन किया है। उन का " भारतीय तर्कशास्त्राची रूपरेषा " यह मराठी में प्रकाशित ग्रंथ उन के अंग्रेजी ग्रंथ का परिवर्धित एवं अनूदित संस्करण है जिस में उन्हें अपनी सुपुत्री डॉ. क्रांतिप्रभा पांडे (नागपूर) का सहयोग प्राप्त है। इस ग्रंथ में उन्हों ने आधुनिक दर्शन एवं तर्कशास्त्र की दृष्टि से भारतीय न्यायशास्त्र को प्रस्तुत किया है। भारतीय न्यायशास्त्र तो तर्कशास्त्र एवं ज्ञानशास्त्र इन दोनों का मिला हुआ विकास है। अतः पदार्थ तथा ज्ञानव्यवहार इन को लेकर जितने भी मौलिक सिद्धान्त भारतीय परंपरा में उठाये हैं उन का विवरण उन्होंने नये ढंग से देते हुए अपने चिंतन का अंश भी उस में मिला दिया है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों की चर्चा में प्रायः ज्ञानविषयक चर्चा एवं अनुमान-विचार में तार्किक प्रमेयों का ऊहापोह ये दो बातें इस ग्रंथ के प्रमुख मूलाधार कहे जा सकते हैं। साथ ही आधुनिक पाश्चात्य-दर्शन में उठायी गयी भाषा विषयक तात्त्विक समस्याओं का निरूपण भी उन की इस पुस्तक में आ जाता है। इस पुस्तक के साथ ही हिंदी एवं मराठी में इस विषय पर उनके कुछ शोध-निबंध भी प्रकाशित हैं। इस पुस्तक में अधिकतर सोच-विचार नव्यन्याय की परंपरा को लेकर किया गया है। लेकिन भारतीय परंपरा के दो अन्य प्रमुख स्रोतों का विचार भी उन्होंने अपने लेखों में प्रस्तुत किया है। उनका मराठी का लेख " भारतीयांची तर्क व ज्ञानमीमांसा " इन तीनों दर्शनों का नव्यन्याय, बौद्ध एवं जैन - समूचा चित्र समन्वित रूप से हमारे सामने अवश्य प्रस्तुत करता है। यह उन का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण लेख है। इस के अलावा जैन एवं बौद्ध परंपरा में उठायी गयी तार्किक एवं ज्ञानविषयक समस्याओं पर भी उन्हों ने कुछ लेख स्वतंत्र रूप से लिखे हैं। जैन-न्याय पर मराठी में लिखे उन के दो लेख जैनों के स्याद्वाद एवं नयवाद के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते हैं। जैन-दर्शन का व्यापक चिंतन केवल उन की तर्क एवं ज्ञानमीमांसा में प्राप्त नहीं होता। अतः इन को लेकर जैन दर्शन के अन्य सिद्धान्तों को विशद करनेवाला उन का विस्तृत शोधनिबंध मराठी में लिखा है। कुंदकुंदाचार्य के प्रवचनसार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का मराठी भाषांतर प्रकाशित हुआ था। उस पुस्तक की प्रस्तावना के रूप में उन का यह लेख आता है। जैन दर्शन एवं संस्कृति की परंपरा बहुत प्राचीन है। जैन-दर्शन को समझने के लिए उस परंपरा के इतिहास को तथा उस से जुडी कुछ समस्याओं को समझना जरूरी है। इस बात की चर्चा करते हुए हमारी प्राचीन संस्कृति का तथा हमारे देश का 'भरतवर्ष' से जो नामकरण हुआ है उसके इतिहास का विचार उन्होंने अपने और एक लेख में किया है जो लेख भी श्री भोमाज की लिखी पुस्तक "भारतवर्ष नामकरण" की प्रस्तावना के रूप में आता है। इसी तरह स्याद्वाद पर लिखी एक पुस्तक की उन्होंने प्रस्तावना लिखी है जिस में स्याद्वाद के मूलस्वरूप को उन्होंने तार्किक एवं दार्शनिक ढंग से प्रस्तुत किया है। इसी तरह बौद्धन्याय की कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओं का विवरण प्रायः उन के अंग्रेजी में लिखे निबंधों में होते हुए भी मराठी में भी उस की भूमिका हमें देखने को मिलती है।

बौद्ध-दर्शन में तर्क एवं ज्ञान के संबंध में कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याएँ उठायी हैं यह सच है लेकिन इस अनात्मवादी दर्शन की आत्मा तर्कादि की चर्चा में मिलनेवाली नहीं है। इस बात को अच्छी तरह से समझते हुए डॉ. बारलिंगेजी ने बौद्ध-दर्शन के मूलसूत्रों को दार्शनिक ढंग से प्रस्तुत करने के लिए काफी भाषण दिये हैं जिन में से कुछ मराठी में लेख के रूप में साकार हुए हैं और इस संदर्भ में उन्होंने स्वतंत्ररूप से कुछ लेख तथा पुस्तक परीक्षण भी लिखे हैं। बौद्ध-दर्शन के दो मूलाधार - प्रेम और करुणा - को लेकर हम नए, सुखी एवं शांतिपूर्ण समाज की रचना कर सकते हैं इस विचार को उन्हों ने बडे आग्रह के साथ स्थापित किया है। आदमी के अस्तित्व के मोल का तभी पता चलता है जब उस की दूसरे आदमी के अस्तित्त्व से मुठभेड होती है। इस मुठभेड का आधार करुणा होकर उस का स्वरूप प्रेम का हो यह गौतम बुद्ध के दर्शन का संदेश वे अपने विचारों के ढाँचे में प्रस्तुत करते हैं। इस तरह दर्शन जब मनुष्य के जीवन का आईना बनता है तब जीवन-दर्शन के संबंध में कुछ विचार उठते हैं। उन का तात्त्विक विवेचन डॉ. बारलिंगेजी के लेखन में हमें मिलता है। लेकिन उस का विचार करने से पहले हमें उन के तर्कविषय लेखन के संदर्भ में और तीन पुस्तकों की ओर ध्यान बढाना है।

जैसे उन्होंने प्राचीन न्यायशास्त्र का अध्ययन कर के उस पर पुस्तकें लिखी, वैसे ही उन्होंने आधुनिक तर्कशास्त्र का अध्ययन कर के उस पर भी पुस्तकें लिखी हैं। यह तर्कशास्त्र पश्चिम में निर्मित एवं विकसित है। उसे हमारे देश में लाने के लिए उस पर उन्होंने हिंदी तथा मराठी भाषा में पुस्तके लिखी हैं। पहले उन्होंने हिंदी में "तर्करेखा" नाम की पुस्तक लिखी जिस में पाश्चिमात्य आकारिक तर्कशास्त्र को उन्होंने प्रस्तुत किया। तर्कशास्त्र के सभी आधुनिक प्रमुख सिद्धान्तों की चर्चा इस पुस्तक में उन्होंने की है। ये पुस्तकें हैं "तर्करेखा भाग एक" और "तर्करेखा भाग दोन"। इन पुस्तकों मे आधुनिक तर्कशास्त्र के प्रमेयों की विस्तृत चर्चा प्रस्तुत करते हुए काफी उदाहरणों के साथ उन्हों ने अपना विवेचन सुलभ बनाया है। इस पुस्तक को तैयार करने में उन्हें

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपने विद्यार्थी तथा सहयोगी डॉ. मो.प्र. मराठे की सहायता प्राप्त हुई थी । इस तरह आकारिक एवं गणिती तर्कशास्त्र में रुचि लेते हुए भी उन का चिंतन वहींतक सीमित नहीं रह पाया । क्योंकि इस के पीछे जो दार्शनिक मूलाधार हैं तथा जीवनविषयक चिंतन है उस में उन्होंने पर्याप्त रूचि दिखाई है ।

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय परंपरा की विचारधारा की मानों रीढ ही रह चुकी है। उस को लेकर आज तक बहुत सारे दार्शनिकों ने अपने दर्शन को विकसित किया है। इसी भगवद्गीता को सामने रखते हुए डॉ.बारलिंगे जी ने अपना एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं विचारप्रवर्तक लेख मराठी में लिखा है - "कर्म, कर्मबंध व मोक्ष" । वेदांत-दर्शन में मोक्ष की जो धारणा है उस को समझाने के हेतु हमें पहले यह देखना पडता है कि मनुष्य के लिए उसका अपना कर्म ही बंधक बन जाता है और उस बंधन से मुक्ति पाना उस के जीवन का चरम उद्दिष्ट बन जाता है । इस कर्म को तथा उस की बंधकता को वे दार्शनिक तौर पर अपने इस लेख में समझाते हैं और उस के परिप्रेक्ष्य में मोक्ष का अर्थ बतलाते हैं। जैसे गौतम बुद्ध के लिए मनुष्य ही दर्शन एवं जीवन का केंद्रबिंदु था वैसे ही डॉ. बारलिंगजी के लिए भी मनुष्य ही दर्शन का केंद्रबिंदु है। फिर भी वे अपनी दर्शन-मीमांसा में दर्शन-चिंतन के दूसरे सिरे को कभी भूलते नहीं हैं बल्कि उस दूसरे सिरे से मनुष्य का संबंध किस तरह होता है इस बात को अपने "विश्व आणि मानव" इस छोटे से लेख में स्पष्ट करते हैं। इस दूसरे सिरे से दार्शनिक - मीमांसा का अधिक विवेचन उन के अंग्रेजी में लिखे साहित्य में मिलता है। हिंदी और मराठी में लिखे उन के बहुतेरे लेखों का मुख्य विषय मनुष्य, उस का जीवन, समाज तथा इन से संबद्ध विविध समस्याओं का विवेचन करना यही रहा है।

मनुष्य-जीवन से जुडी दार्शनिक समस्याओं का विवेचन करनेवाले बहुत सारे लेख मराठी एवं हिंदी भाषा में डॉ. बारलिंगेजी ने लिखे हैं। इन लेखों के बजाय इस विषय को प्रस्तुत करनेवाली कुछ पुस्तकें भी उन्हों ने लिखी हैं। भारतीय संस्कृति के संबंध में उन का चिंतन हमेशा सजग रहा है। किसी भी देश में जब कोई बदलाव आता है तब उस की शुरूआत राजनैतिक परिवेश से नहीं बल्कि सांस्कृतिक सिरे से होनी है । इस बात को चीन में घटित सांस्कृतिक क्रांति के उदाहरण से उन्होंने अपने एक मराठी लेख में अच्छी तरह से विशद किया है । वह लेख है "सांस्कृतिक क्रांती" । अपने दूसरे मराठी लेख "भारतीय संस्कृति व सांस्कृतिक क्रांति" में वे इस बात को और आगे बढाते हैं । इस लेख में वे समूची भारतीय संस्कृति के इतिहास को सामने रखकर उस के महत्त्वपूर्ण विशेषों तथा मूल्यों को वे उद्घाटित करते हैं । इस पार्श्वभूमि पर हमारी आज की जरुरत है आमूलाग्र एवं समग्र परिवर्तन की । उसे सांस्कृतिक क्रांति से आरंभ करना है । यह आरंभ कहाँ और कैसे हो इस बात को भी उन्होंने इस लेख में कहा है । डॉ. बारलिंगेजी की विचारधारा इस विषय पर अत्यधिक मजबूत एवं सतर्क रही है । वे हमेशा ही इस दिशा में कुछ न कुछ विचार प्रस्तुत करते रहे हैं । वास्तव में उन के अनेकों भाषणों एवं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संवादों का यही सूत्र रहा है । हमारा समाज जो एक राष्ट्र के रूप में उभरा है उस की प्रतिष्ठापना सम्मान एवं समृद्धि से कैसे हो इस बात की चिंता को लेकर उनका चिंतन अत्यधिक प्रवृत्त रहा है । हमारे देश के इतिहास में विगत शताब्दि को प्रबोधन-काल मानने की बहुत विचारकों की कोशिश रही है । इस संदर्भ में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से उन्हों ने अपने मौलिक विचार प्रस्तुत करते हुए प्रबोधन के दावे को आलोचक की दृष्टि से अनेकों बार हिला भी दिया है । "आहे कोठे समाज-प्रबोधन?" जैसा मराठी में लिखा उन का लेख इस बात का प्रमाण है ।

हमारे समाज की समस्याओं में सब से महत्त्वपूर्ण समस्या रही है जाति एवं वर्ण की । इस विषय में तो डॉ. बारलिंगेजी अपना मौलिक स्थान रखते हैं । अपना संशोधन एवं तर्कसंगत चिंतन इन को लेकर वे कहते हैं कि जिस तरह से तथा जिस रूप में स्मृतियाँ एवं परंपरा जाति तथा वर्ण इन का उद्‌गान करती हैं उस तरह से हमारी संस्कृति के इतिहास में जातिव्यवस्था तथा वर्ण-व्यवस्था कभी भी अस्तित्व में नहीं रही है । इस के संबंध में जो कुछ भी ग्रंथों में लिखा मिलता है वह वस्तुस्थिति का वर्णन नहीं बल्कि इष्ट एवं आदर्श व्यवस्था का चित्रांकन मात्र है । "जातिवर्ण आणि संस्कृति" तथा कुछ अन्य लेख जो मराठी में लिखे हैं उन में उन के विचार संकलित रूप से मिलते हैं। इसी से जुडी और एक सामाजिक समस्या है स्त्रीमुक्ति की । इस विषय पर भी उन का अपना चिंतन रहा है । स्त्री की मुक्ति के संबंध में वे हमेशा सजग रहे हैं । हमारी परंपरा, संस्कृति तथा सामाजिक व्यवस्था ने स्त्रियों पर बहुत सारे अन्याय्य बंधन डाले हैं, अत्याचार भी किये हैं । इन सब के खिलाफ आवाज उठा कर इस विषय को दार्शनिक परिधि में ही बिठाकर फिर भी शैली की दृष्टि से अनूठे ढंग से उन्होंने अपनी "क्रांतिपूजा" इस मराठी पुस्तक में प्रस्तुत किया है । लेकिन तत्कालीन सरकार ने इस पुस्तक पर बंदी जारी की है जो अभी तक कायम है । इस किताब में स्त्री-जीवन की सभी मूलभूत बातों पर उन्होंने अपने विचार पूरी निर्भीकता के साथ प्रस्तुत किये हैं । इस विषय को लेकर मराठी में ही उन के और भी लेख हैं, जैसे कि "स्त्रीमुक्ती आणि बालकमुक्ती" तथा "महात्मा फुले आणि स्त्रीप्रबोधन" आदि । इन लेखों में उन्होंने बालकों के संबंध में हमारा दृष्टिकोन तथा बर्ताव किस तरह का हो इस बात का विचार किया है । क्योंकि मानवसमाज के सबसे अधिक अन्यायपीडित एवं अत्याचारग्रस्त घटक तो स्त्री एवं बालक ही रहे हैं । इन बातों को लेकर वे समाज की रचना किस तरह अन्याय-मुक्त हो इस सूत्र का विवेचन करते रहे हैं । मराठी का उन का लेख "निकोप समाजाची घडण" इस बात की याद दिलाता है ।

समाज को संपन्न बनाने के लिए उस में बहुतसे परिवर्तनों की अपेक्षा की जाती है। परंपरावादी समाज समय की रफ्तार को समझने तथा पकडने में समर्थ नहीं होता है । इस समय हमें आधुनिकता की विचारधारा को प्रवर्त्तित करना जरूरी है । इसी से समाज में विकास एवं प्रगति होती है और अन्याय, विषमता, गुलामी जैसी सामाजिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समस्याओं से मुकाबला किया जाता है । इस विषय को डॉ.बारलिंगेजी ने अपने कुछ मराठी लेखों में विकसित किया है । उन में से कुछ लेख हैं, "पं.नेहरू आणि आधुनिकीकरण", "प्रगतीची संकल्पना आणि माणूस" आदि । हमारी सामाजिक समस्याओं में और भी कुछ समस्याएँ प्रधान रही हैं । इन में भ्रष्टाचार तो हमारी सबसे बडी और कठीन समस्या रही है । डॉ.बारलिंगेजी का इस संबंध में अपना विचार है । इस समस्या का मुकाबला हम केवल नैतिक मूल्यों के प्रचार से नहीं कर सकते । इस के साथ ही हमें व्यावहारिक पक्ष और उस की उपादेयता इन को भी समझना चाहिए यह बात वे बताते हैं । भ्रष्टाचार की मूल में जो प्रवृत्ति है उन का संबंध एक ओर बिना काम किए सुख एवं समृद्धि की अभिलाषा रखने से जैसे है वैसे ही दूसरी ओर वह कार्यक्षमता और समय पर काम पूरा करने की प्रेरणा से भी है । इस बात को वे स्पष्ट करते हैं "भ्रष्टाचार" इस मराठी लेख में भी । इन समस्याओं के साथ कुछ आर्थिक समस्याएँ भी हैं जो हमारे समाज की प्रगति में रोडे अटकाती रही हैं । उन का भी विस्तृत विचार उन्हों ने अपने लेखों में किया है । निजी संपत्ति की संकल्पना पर हमेशा विवाद होते रहे हैं । इस बात को लेकर उन्हों ने मराठी में लेख लिखा है "खाजगी मालमत्तेच्या कल्पनेचा विकास" ।

हमारे समाज के सभी प्रश्न वाकई हमारे राजनैतिक परिवेश से ऐसे जुडे हैं कि कभी कभी ऐसा लगता है कि वही सभी समस्याओं का मूलस्रोत है । डॉ.बारलिंगेजी राजनैतिक दर्शन के माहिर और अधिकारी हैं । इस क्षेत्र में भी उन का विपुल लेखन रहा है । इस संदर्भ में उन के मराठी के कुछ लेख बहुत महत्त्वपूर्ण रहे हैं । हमारे जनतंत्र का स्वरूप हमारे लिए क्या हो सकता है तथा उस की समस्याओं का समाधान किस तरह दिया जा सकता है इस बात का अच्छा विवेचन मिलता है उन के लेखों में,"लोकशाही : काही प्रश्न" तथा "लोकशाही आणि सामान्य माणूस" । राजनैतिक क्षेत्र हमेशा संघर्षों से भरा रहता है । उस में अगर स्थैर्य रहना है तो राजनैतिक सत्ता का संतुलन अवश्यंभावी है । राजनैतिक सत्ता का स्वरूप क्या है, उस का संतुलन किन कारणों से बिगडता है, उस के बिगड जाने पर कौनसी समस्याएँ उठ खडी होती हैं और इस संतुलन को कायम बनाए रखने के लिए किस विधि का अवलंब किया जा सकता है इस सब बातों की चर्चा उन के कुछ लेखों में मिलती है जिन में मुख्य लेख है "सत्तेचा समतोल"। हमारे राजनैतिक संदर्भ में धर्म की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है । कुछ साल पहले हमारी राजनीति में उथल-पुथल मची थी एक घटना को लेकर जिस में बहुत सारे लोगों ने हिंदु-धर्म को त्याग कर इस्लाम धर्म का स्वीकार किया था । इस घटना के पीछे बहुत से गंभीर कारण हैं । उन को भी उन्होंने अपने "धर्मान्तराचा प्रश्न" इस लेख में स्पष्ट किया है । इन राजनैतिक समस्याओं को सुलझाने के लिए उन के मन में कुछ आदर्श तथा कल्पनाएँ हैं उनमें से बहुत से आदर्श उन्हे गांधीवाद से प्राप्त हैं। इस गाँधीवाद के पीछे जो दार्शनिक पृष्ठभूमि है उसे उन्होंने "गाँधीदर्शन" इस हिंदी लेख में प्रस्तुत किया है तथा हिंदी और मराठी के गाँधीवाद से संबद्ध कुछ अन्य लेखों में भी अंकित किया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गाँधीजी पर जिन विचारकों का बडा प्रभाव पडा था उन में से डेविड थोरो एक थे । उन के राजनैतिक दर्शन का मुख्य सूत्र Civil Disobedience था । इसपर उन्हों ने मराठी में एक विस्तारपूर्वक शोधनिबंध लिख कर उस की भूमिका की दार्शनिकता को स्पष्ट किया है। वह लेख है, "थोरो आणि सविनय कायदेभंग" । डॉ. बारलिंगेजी के मूल्य ने हमेशा के लिए मूलगामी रहे हैं । हमारे समाज को अगर शांति और सौहार्दभाव से टिके रहना है तो सभी लोगों को मैत्री-भाव से रहना जरूरी है । मैत्री के इस दर्शन को सामाजिक परिवेश में किस तरह विकसित किया जा सकता है इस का बहुतही अच्छा चित्र हमें उन के "मैत्री" इस हिंदी में लिखे निबंध में मिलता है । अगर हम आदर्श समाज की कल्पना करते हैं और उस के निर्माण के लिए प्रयत्न करना चाहते हैं तो उस की शुरुआत शिक्षा से होती है । इस बात को अच्छी तरह से पहचान कर हमारे लिए शिक्षा का स्वरूप क्या और कैसा हो इस विषय को उठा कर उन्होंने कुछ लेख लिखे हैं । इस में मराठी के कुछ लेख महत्त्वपूर्ण हैं, जैसे "खुजे शिक्षण खुजा समाज," "आमची शिक्षण समस्या"। शिक्षा के लिए भाषा की और भाषा को लिपि की जरूरत है । हमारी देवनागरी लिपि का काफी संशोधन होता रहा है । उन्हों ने इस क्षेत्र में भी कुछ काम किया है । प्राचीन लिपियों के अपने अध्ययन एवं संशोधन की पार्श्वभूमि को लेकर उन्हों ने देवनागरी लिपि के अपने संशोधन के आधार पर अपनी ओर से कुछ सुधार एवं प्रस्ताव रखे हैं "देवनागरी लिपी सुधारणा" इस मराठी लेख में ।

सौंदर्यशास्त्र, कला, नाट्यशास्त्र और साहित्यशास्त्र में डॉ. बारलिंगेजी के संशोधन के कुछ मुख्य विषय रहे हैं और इस क्षेत्र में भी उन्होंने प्रचुर मात्रा में लेखन किया हैं । सौंदर्यशास्त्र पर उन के हिंदी में दो तथा मराठी में दो ग्रंथ अबतक प्रकाशित हो चुके हैं। हिंदी के ग्रंथ है, "सौंदर्यतत्त्व और काव्यसिद्धान्त" तथा "कला और सौंदर्य" और मराठी के ग्रंथ हैं "सौंदर्याचे व्याकरण" - पहिली आवृत्ति और 'सौंदर्याचे व्याकरण - सुधारित दुसरी आवृत्ति" । इन पुस्तकों में उन का जो लेखन प्रस्तुत है उस का विस्तृत विवरण मैंने अन्य लेख में किया है । लेकिन इन पुस्तकों के सिवा भी हिंदी और मराठी में उन के और भी कुछ लेख इन्हीं विषयों पर लिखे हैं । आजकल प्रचलित दलित साहित्य की भूमिका को स्पष्ट करने के हेतु उन्हों ने दलितसाहित्यपर कुछ लेख लिखे हैं । साथ ही मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र का स्वरूप स्वतंत्र रूप से स्पष्ट करने के हेतु उस पर भी कुछ लेख लिखे हैं । इस तरह साहित्य से उन का बहुत पुराना रिश्ता रह चुका है । उस को उन्हों ने अपना लेख " साहित्याचे माझ्या जीवनातील स्थान" में स्पष्ट कर दिखाया है । आदमी बनता है तो कुछ संस्कारों के कारण । आदमी पर जो संस्कार होते हैं उन में ग्रंथ एवं साहित्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं । इसी बात का उन्होंने अपने उदाहरण से अपने लेख में स्पष्ट किया है । इस बात का एक और भी मजेदार पहलू है। जैसे मनुष्य का अपने पुत्रों तथा विद्यार्थियों से मधुरता का एक अलग ही नाता होता है। इस को उन्हों ने "माझी पुस्तके : माझे प्रकाशक" इस लेख में दिखाया है । साहित्यकार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समाज का ही एक अंश होने के नाते उस का संबंध जैसे समाज एवं सामाजिक मूल्यों से है वैसे ही वह शासनसंस्था से भी है । इस संबंध को लेकर हमेशा कई तरह के वाद उठाये जाते हैं । लेकिन डॉ. बारलिंगजी ने अपनी भूमिका तथा मूल्यों को अपने एक लेख "साहित्यिक व शासन" में स्पष्ट कर दिया है । साहित्यकार तो अवश्य ही स्वतंत्र होता है । लेकिन उस की स्वतंत्रता उस की जिम्मेदारी से जुडी है। उसे कुछ सामाजिक दायित्व भी निभाना है । इस कल्पना को उन्हों ने "लेखकाचे स्वातंत्र्य व सामाजिक बांधिलकी" इस लेख में स्पष्ट किया है । जो उदयोन्मुख नये साहित्यिक हैं उन के लिए भी कुछ करना जरूरी है । उन्हें साहित्यनिर्मिति की प्रक्रिया तो सिखाई नहीं जा सकती । लेकिन उन का अनुभवविश्व व्यापक एवं गहन बनाने के हेतु उन्हें कुछ सुविधाएँ भी प्राप्त करा दी जा सकती हैं । इन बातों के पीछे कौन सा विचार है और इस आयोजन की विधा किस तरह की हो इस बात का विवेचन उन्होंने "कोणंत्या दुकानात ब्रश मिळेल" इस लेख में किया है । अन्य कलाओं से साहित्यकार का क्या संबंध होता है और अपनी प्रतिभा को संपन्न बनाने के हेतु वह अन्य कलाओं का किस तरह उपयोग कर सकता है इस का विवेचन प्राप्त है "कला व साहित्य : काही टिपणे" इस लेख में ।

इन सब विधाओं के साथ डॉ. बारलिंगेजी के अध्ययन एवं संशोधन में इतिहास भी एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है । उन्होंने इस विषय पर एक पूरी पुस्तक ही लिख डाली है जो अंग्रजी में है तथा अप्रकाशित है । लेकिन इस विषय के कुछ पहलुओं को लेकर उन्होंने मराठी में कतिपय लेख लिखे हैं । उन लेखों में उन्होंने केवल इतिहास के संदर्भ में आनेवाली कुछ समस्याओं का भी जिक्र किया है । इस दृष्टि से उन के लेख द्रष्टव्य है - "इतिहास", इतिहासचक्राच्या निमित्ताने", "इतिहास कसा घडतो, इतिहास कसा लिहावा", "इतिहासाचे एक टिपण", "इतिहासावर (इचलकरंजी) दिलेली व्याख्याने" आदि । इतिहास के लिए दर्शन की जरूरत है और दर्शन को समझने के लिए इतिहास की जरूरत है इस बात को उन्होंने अपने उदाहरण से साबित कर दिया है ।

डॉ. बारलिंगेजी को कुछ बार ऑल इंडिया रेडिओ पर अलग अलग तरह क भाषण देने के लिए आमंत्रित किया गया था । उन में से "चिंतन" कार्यक्रम में उन्हों ने जो भाषण दिये थे वे दार्शनिक चिंतन से संपृक्त हैं । आम आदमी की समझ में आ सके और आज की समस्याओं को दार्शनिक रुख में प्रस्तुत कर सके इस तरह के ये व्याख्यान हैं। इन व्याख्यानों को एकत्रित एवं संपादित कर के मराठी में एक छोटी पुस्तक प्रकाशित हुई है "राष्ट्रीय एकात्मता" । आज हमारे देश की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या है उस की मानसिक, राजनैतिक एवं भौगोलिक एकता तथा अखंडता को किस तरह मजबूत बनाया रखा जाए । क्योंकि केवल मजहब ही नहीं बल्कि एक दूसरे के प्रति समाज में आज कम होती जानेवाली आपनेपन की भावना हमारे देश की एकता को बडा भारी संकट बन खडी है । लेकिन इस संकट से हमें मुकाबला कर के इस समाज एवं देश की उन्नति एवं प्रगति में योगदान देना है । इस मुख्य सूत्र को लेकर इस पुस्तक के छः लेखों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का आयोजन हुआ है । उन लेखों के शीर्षकों से ही इन के मुख्य प्रतिपाद्य विषय का पता चल जाता है । वे लेख हैं, "जातीय सलोखा", "राष्ट्रीय एकात्मता", "आम्हीचे व्याकरण", "माझ्याशिवाय दुसराही", "आम्ही भारतीय", "माझा देश" ।

डॉ. बारलिंगेजी के चिंतन एवं कार्य का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय रहा है इस समाज की, इस देश की संपन्नता को कैसे विकसित किया जाए । इस भावना एवं प्रेरणा को संस्कार के रूप में बालकों और युवा मनों से परिचित कराना इस के लिए एक अच्छा उपाय है । इस को पूरा करने के लिए उन्होंने कुछ कथाएँ लिखी हैं । लगता तो ऐसे है कि ये कथाएँ बालकों के लिए लिखी हैं । क्योंकि हमारे इतिहास, पुराण एवं महाकाव्यों के प्रसंगों को लेकर ये कथाएँ लिखी हैं । फिर भी उन में विचार की जो गंभीरता पायी जाती है उसे देखकर पता चलता है कि ये कथाएँ केवल बाल-पीढीके लिए ही नहीं हैं बल्कि समाज के युवा एवं प्रौढ वर्ग के लिए भी हैं । क्योंकि इन कथाओं की लेखन-शैली कुछ और ही है । किसी एक सूत्र को लेकर ये कथाएँ लिखी हैं और वे उन सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा नैतिक सूत्रों को अच्छी तरह से पाठकों के सामने प्रस्तुत भी करती हैं । इन कथाओं के तीन संग्रह मराठी में प्रकाशित हैं - "माझे घर माझा देश," "न संपणाऱ्या गोष्टी" और "गोष्टींचे गाठोडे" । इन में से जो पहला है "माझे घर माझा देश" यह केवल कथा-संग्रह ही नहीं है बल्कि वह हमारे देश की संस्कृति के प्रमुख विशेषों को अपने विकासक्रम में सामने प्रस्तुत करता है । हमारे समाज की दार्शनिक पार्श्वभूमि, विवाहसंस्था का विकास, नैतिक नियमों का क्रम, संस्कृति के विकास-लय के आंदोलन, वैद्यकविद्या का उगम, सत्य की खोज, त्याग की महत्ता, सामाजिक संघर्ष, बौद्ध दर्शन का विकास, प्राचीन विज्ञान ऐसे सूत्रों को लेकर इस पुस्तक की कथाओं की रचना की गई है । इसी बात को अन्य रूप में आगे बढाकर उन के बाकी के दो कथासंग्रह बने हैं ।

डॉ. बारलिंगेजी ने कुछ साल पहले एक पत्रिका चलायी थी "इन्किलाब" । यह मराठी में थी । कुछ साल इस पत्रिका का प्रकाशन होता रहा । इस पत्रिका में दर्शन, धर्म, राजनीति, इतिहास, समाजशास्त्र, भाषाशास्त्र आदि बहुत सारे विषयों पर उन्होंने प्रचुर लेखन किया था । उन में से कुछ चुने हुए लेख "इन्किलाब" इसी शीर्षक से पुस्तकरूप में मराठी भाषा में प्रकाशित हुये हैं ।

उन्हों ने छोटी-बडी बहुतसी हस्तियों पर मराठी और हिंदी में लिखा है । यह लेखन प्रायः दो तरह का दिखाई देता है । इस में एक विधा है कुछ साहित्यिक - कवि इन की रचनाओं की आलोचना एवं रसग्रहण करनेवाले लेखों की । इन में कुछ महत्त्वपूर्ण साहित्यकार हैं । मराठी के प्रसिद्ध कवि, उपन्यासकार, नाटककार श्री. वि. वा. शिरवाड्कर तथा कुसुमाग्रज, कवि श्री. नारायण सुर्वे, कवि श्री. आ. रा. देशपांडे तथा अनिल, कवि श्री. महेन्द्र कार्तिकेय जो हिंदी के कवि है आदि लोगों का इस में समावेश है । इस के बजाय उन्हों ने बहुत सी व्यक्तिरेखाएँ मराठी में लिखी हैं । ये

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शायद चालीस से भी ज्यादा होंगी । इन में सब तरह की व्यक्तियों का बहुत ही अच्छे साहित्यगुणों से परिपूर्ण परिचय हमें मिलता है । इन में श्रीमती इंदिरा गांधी, विनोबाजी, कवि श्री. द.रा. बेन्द्रे, स्वामी रामानंदतीर्थ ऐसे लोगों के साथ उन के निकट के सब तरह के परिचित भी हैं । यहाँ तक कि उन की लिखी एक व्यक्तिरेखा उन से मुलाकात हुए एक डाकू की है तो दूसरी उन के एक शासकीय ड्रायव्हर की है । इन सभी व्यक्तिरेखाओं में हमें मानवीयता के अलग अलग विलोभनीय रूप दिखाई देते हैं । इन में से चुनी हुई कुछ व्यक्तिरेखाओं का एक संग्रह मराठी में "पुन्हा भेटू या" इस शीर्षक से प्रकाशित है ।

डॉ. बारलिंगेजी ने मराठी में एक उपन्यास भी लिखा है - "मी पण माझे" इस नाम का । इस का हिंदी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है । यौन-परिवर्तन की (Sex-change) समस्या को लेकर लिखा यह उपन्यास मराठी के साहित्यक्षेत्र में बहुत चर्चित रहा । इस उपन्यास की अनेक विशेषताएँ हैं । उसकी शैली मराठी साहित्य में अनूठी है । उपन्यास का यह विषय भी मराठी साहित्य में पहली बार ही उठाया है । लेकिन सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह उपन्यास दर्शनशास्त्र में बहुचर्चित समस्या- the problem of personal identity को लेकर लिखा गया है । उपन्यास में दार्शनिक चर्चा बिल्कुल नहीं है, फिर भी उन्होंने इस दार्शनिक समस्या को बडी सफलता से प्रस्तुत किया है ।

डॉ. बारलिंगेजी मराठी के कवि एवं कथाकार भी हैं । उन्होंने अपनी कुछ कविताएँ बहुत साल पहले प्रकाशित की थीं । पिछले कुछ सालों में उन्हों ने मराठी में करीबन दस-बारह कहानियाँ प्रकाशित की हैं । लेकिन इस लेखन को उन्हों ने अपने प्रचलित नाम को छोडकर किसी सांकेतिक नाम से प्रकाशित किया है । इसलिए मराठी का वाचक जो उन कथाओं को पढकर भी उन के कथा लेखक डॉ. बारलिंगेजी ही हैं इस बात को जानता नहीं है । अतः उन की अनुमति के बिना इन कथाओं का अधिक परिचय देना मेरे लिए मर्यादाभंग होगा । मैंने उन सब कहानियों को पढा है और उस के बारे में इतना तो अवश्य कह सकता हूँ कि उन के उपन्यास की तरह इन कहानियों में भी दार्शनिक समस्याएँ, बिना कोई दार्शनिक चर्चा के, प्रस्तुत की गयी हैं ।

डॉ. बारलिंगेजी के मराठी एवं हिंदी लेखन की यह केवल परिचायक झलक-मात्र ही है ।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे-४११००७

डॉ. सुभाषचंद्र ए. भेलके

■

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY PUBLICATIONS

Daya Krishna A.M. Ghose(eds), Comtemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran.) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi(ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A. M. Ghose and P. K. Srivastaav(eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and P. P. Gokhale(eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities(upto 1980), Part I, Rs. 50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs. 25/--

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs. 30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs. 100/-

Contact :

The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Pune,
Pune-411007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कला और दार्शनिक चिन्तन बारलिंगे की दृष्टि में

कला क्या है ? इस प्रश्न को बारलिंगे ने अलग-अलग दृष्टिकोणों से समझने की चेष्टा की है । उनकी पुस्तक **"कला और सौंदर्य"** में विस्तार से इस प्रश्न पर विचार किया गया है । एक अन्य पुस्तक **"बिलीफ्स्, रीज़न्स ऍण्ड रिफ्लेक्शन्स"** (अंग्रेज़ी में) के अध्याय **"स्ट्रक्चरल डिज़ाईन ऑफ आर्ट"** में भी इस विषय पर विचार किया गया है । सौंदर्यशास्त्र के संदर्भ में इस प्रश्न पर चिन्तन की एक परम्परा रही है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता । परंतु इस दिशा में मौलिक चिन्तन में पिछले कुछ दशकों में काफ़ी गहमा गहमी रही है ।

बारलिंगे के चिन्तन में हम दो भिन्न दिशाओं को स्पष्ट रूप में देख सकते हैं : (१) सृजनमूलक दृष्टिकोण (२) विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण । यहाँ यह कहना उचित होगा कि ये दोनों दिशाएँ एक दूसरे की परिपूरक सिद्ध होती है तथा उनके चिन्तन को परिपक्व बनाती है ।

सृजनमूलक दृष्टिकोण :

कलाकार क्यों सृजन करता है ? कलाकृतियाँ क्यों बनाई जाती हैं ? इनकी क्या आवश्यकता या उद्देश्य हैं ? इस प्रकार के प्रश्न बहुत स्वाभाविक रूप से मन में उठते हैं। बारलिंगे का मानना है कि " ... अपना अनुभव दूसरे को संप्रेषित करना ही कला का उद्देश्य है " **(कला और सौंदर्य, पृ. १०४)** अर्थात्, माध्यम चाहे कोई भी हो, कला का उद्देश्य एक ही रहता है । इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर कलाकार अपने "अनुभव" का संप्रेषण करता है ।

यहाँ हमने अनुभव शब्द को " " में लिखा है । प्रश्न उठता है : ऐसा क्यों? अर्थात् "अनुभव" से क्या तात्पर्य है ? इसका स्पष्टीकरण बारलिंगे स्वयं ही एक अन्य लेख में देते हैं :

" What do we do when we create art forms, whether of the pattern of a lyric poem, painting, sculpture or music ? Perhaps we could say that we are representing, recollecting, restoring, rearranging our experience . Here the words 're' and 'experience' are very important. The prefix 're' makes explicit the hand of man behind all arts. The word 'experience' suggests that whatever be the change made by man in reshaping his experience, so as to make it an art, the nature of experience, however mutated it may be, is still an experience.

("The Structural Design of Art", in **Beliefs, Reasons and Reflections, p.236)**

किसी चीज़ को 'फिर से' ('पुनर्') निर्माण करने में, उसे तोड़-जोड़ कर बनाने में,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कलात्मकता अंतर्निहित रहती है। जिस अनुभव को हम जीवन में पाते हैं उसके विचित्र अंगों को कलाकार काट-जोड़ कर उन्हें 'फिर से' एक साँचे में ढालता है; यही कलाकार की कुशलता व सृजनशीलता का परिचायक है। कहने का तात्पर्य है कि जीवन से प्राप्त अनुभव को जैसे को तैसा न रख उसको विचित्र रूप से तोड़ते-जोड़ते एक अलग या नई संरचना को जन्म दिया जाता है। यहाँ 'फिर से' ('re') पर जोर इस बात का द्योतक है कि बनाई गई कलाकृति **व्यक्ति-निर्मित** है, न कि नैसर्गिक। उन्होंने इस भेद को **तात्त्विक** तथा **तार्किक** दोनों धरातलों पर परखा है।

इसके **तात्त्विक** पक्ष को हम यों समझ सकते हैं कि कला व्यक्ति-केन्द्रित (anthropocentric) प्रक्रिया है। व्यक्ति द्वारा बनाई गई, व्यक्ति-आधारित और व्यक्ति अनुभव से संबंधित कलाकृति को नैसर्गिक से भेद करना स्वतःसिद्ध (axiomatic) माना जाना चाहिये। यदि हम उसके **तार्किक** पक्ष को देखें तो हम कहेंगे कि 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग नैसर्गिक वस्तु व दृश्य तथा कलाकृतियों दोनों के संदर्भ में करते हैं। परन्तु नैसर्गिक की 'सुन्दरता' और कलाकृति की 'सुन्दरता' में भेद करना आवश्यक है। किसी कलाकृति में न केवल हम वस्तु की सराहना करते हैं अपितु हम अभिव्यक्ति के रूप (form) और कलाकार की कुशलता की भी सराहना करते हैं। कारणस्वरूप यह कहा जायेगा कि कलाकार की अपनी अनुभूति का **पुनर्गठन** केवल मात्र अनुभव न रह कर एक नई संरचना के रूप में प्रकट होता है।

'पुनर्गठन' शब्द 'पुनर्' केवल मात्र अनुभव से कला को अलग करता है। साथ ही यह भी कहना उचित होगा कि बिना अनुभव के कलाकृति की संरचना नहीं की जा सकती है। यह बात अमूर्त कला (abstract art) पर भी लागू होती है। इस प्रतिपादन को समझ लेना उचित होगा। बारलिंगे की यह मान्यता रही कि बिना 'देश' और 'काल' के अनुभव संभव ही नहीं। इस अर्थ में कोई भी मानवीय अनुभव किसी विशेष 'देश' और 'काल' पर आधारित तथा उनसे जुड़ा रहता है। परंतु इस अनुभव को कलात्मक सृजनता में तभी ढाला जा सकता है जब इसका **'साधारणीकरण'** किया जाये। परंतु क्या है यह 'साधारणीकरण' कि प्रक्रिया? 'देश' या 'काल' को सम्पूर्ण रूप से विलुप्त तो नहीं किया जा सकता, परंतु इनका पुनर्गठन इस प्रकार किया जा सकता है जिससे भिन्न 'देश' और भिन्न 'काल' का या फिर इनमें से 'काल' या 'दिक्' का विलुप्तीकरण दर्शाया जा सके। अमूर्त कला में 'काल' का 'देश' में रूपान्तर किया जाता है।

इस प्रकार, बारलिंगे के अनुसार जीवन से जुड़े अनुभव का रूपान्तर ही कलात्मक सृजनता की पहचान है। कला और जीवन के बीच के इस द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध को हम यों समझ सकते हैं कि अनुभव बिना कला नहीं, परंतु अनुभव ही कला नहीं है। इसी सम्बन्ध को हम अलग अलग कला माध्यमों में अलग अलग रूप में साकार होता देखते हैं। उदाहरण स्वरूप, साहित्य में कहानीकार केवल अपने अनुभव का सपाट वर्णन नहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करता । उसकी कला प्रतिभा इस बात पर आधारित है कि वह अनुभव के विभिन्न अँगों को तोड़-जोड़ कर उसको एक नई आकृति दे,जो अनुभव **जैसा** तो प्रतीत हो पर कोरा अनुभव का सपाट वर्णन न हो । इस भेद को, कला और जीवन के भेद को, बनाये रखना किसी भी कलाकार के लिए एक चुनौती बन कर खडी रहती है । इसी के माध्यम से जीवन से जुड़े अनुभव का कला-रूपी 'अनुभव' में रूपान्तरण होता है । कला द्वारा 'संप्रेषण' भी इसी रूप में संभव है । सपाट वर्णन तथा कलात्मक संप्रेषण के इस भेद को बारलिंगे ने सुनियोजित रूप से स्पष्ट किया है जो उनकी अन्तर्दृष्टि का परिचायक है।

विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण :

यदि हम कला के प्रयोजन और उद्देश्य को कुछ देर के लिए भूल जायें और कलाकृतियों को कला-रसिक के दृष्टिकोण से देखें तो हम क्या देखते हैं ? एक शब्द में : **विविधता** - न केवल माध्यम के आधार पर बल्कि अलग-अलग कला **विधाओं** और कलाकृतिओं के रूप में भी । इतनी विविधताओं में किसी एक मूलतत्त्व के आधार पर कला को परिभाषित नहीं किया जा सकता । बारलिंगे की यह मान्यता इस शताब्दि के ५० के दशक में शुरू हुए विटगेंस्टाइन द्वारा प्रभावित विश्लेषणात्मक धारा के दार्शनिकों के मूल स्रोत से जुडी लगती है । मौरिस वेल्स तथा अन्य दार्शनिकों ने 'कला' अवधारणा को 'खुली बुनावट' (open texture) बताया है । इनका कहना है कि क जैसे विटगेंस्टाइन के अनुसार 'खेल' ('game') को परिभाषित नहीं किया जा सकता वैसे ही 'कला' को भी 'सार' ('essence') के आधार पर परिभाषित नहीं किया जा सकता । उनका यह भी मानना है कि इस प्रकार की 'खुली' अवधारणाओं को (जैसे, 'खेल' व 'कला') 'पारिवारिक सादृश्यताओं' ('family resemblances') की अवधारणा द्वारा समझा जा सकता है । इन दार्शनिकों का मूल वक्तव्य यह है कि **तार्किक आधार** पर, न केवल व्यावहारिक कठिनता के दृष्टिकोण से, ये अवधारणएँ **अपरिभाषित** ही मानी जानी चाहिए । बारलिंगे के विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण का मूल स्वभाव भी कुछ ऐसा ही है । उनका भी यही मानना है कि कला को हम पूर्ण रूप से परिभाषित नहीं कर सकते क्योंकि हम अनेकों विविधताओं के बीच अनिवार्य शर्त (necessary condition) की तो खोज करने में सफल होते हैं परंतु पर्याप्त शर्त (sufficient condition) की खोज कदापि संभव नहीं है । इसीलिए कला को पूर्णरूप से परिभाषित नहीं कर सकते।

केवल इतना ही नहीं, बारलिंगे अपनी विचारधारा को कुछ आगे भी ले जाते हैं जो अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण दिशा है । यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि कला की विविधताओं में अनिवार्य शर्त (necessary condition) आख़िर क्या है ? क्या इसकी खोज बारलिंगे कर पाते हैं ? इसका उत्तर सकारात्मक ही है। उनके अनुसार हर कला में हुए उस प्रयास को देखना आवश्यक है जिसमें हमारे जीवन-अनुभव में अन्तर्निहित 'काल' के आयाम को 'देश' में रूपान्तरित करना है । यहाँ उनके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुछ ऐसे उक्तियों को उद्धृत किया जा सकता है जिससे यह सिद्धान्त उभर कर सामने आता है । उनकी पुस्तक **बिलीफ्स, रीज़न्स एण्ड रिफ्लेक्शन्स** के एक लेख " **दि स्ट्रक्चरल डिज़ाइन आफ आर्ट**" में उन्होंने कहा है :

" In any art the temporal element in our experience is being reduced to space." (p.241)

थोड़ा आगे जाकर :-

" But we have seen that in a sense, every art has a form, it is concerned with reducing time partially or fully to non-time or space." (p.242) स्पष्ट है कि उनके अनुसार प्रत्येक कला में 'काल' का अमूर्त्तिकरण (abstraction) किया जाता है और उसे 'देश' में बदलने की चेष्टा हमेशा बनी रहती है जो हर कलाकृति में पूरी तौर पर संभव नहीं हो पाती । उनके अपने शब्दों में :

" In each art, then, there is an attempt to make time static."(p.243)

और :-

"This peculiarity, namely, an attempt to reduce time to zero and still have persistence of temporal dynamism charactarises all arts. But this is, according to me,only a necessary condition of art.... I think, it is not possibie to enumerate or substantiate its sufficient conditions which vary from one art- piece to another art-piece. What we call art is a family of several art-particulars and so it is not possible to bring all arts in one system and govern the system of suffficient conditions by one logic." (p.243)

यहाँ इस बात पर जोर दिया जाना चाहिए कि '~~काल~~' को संपूर्ण रूप से 'शून्य' या स्थिर तो नहीं किया जा सकता, परंतु कला या कलाविधा में यह चेष्टा आवश्यक रूप से बनी रहती है जिससे **(क)** किसी एक विशेष **कलाविधा** (art form) के अन्तर्गत विभिन्न कलाकृतिओं को तो इस आधार पर अलग-अलग नहीं किया जा सकता, परंतु **(ख)** विभिन्न कलाविधाओं को एक दूसरे से अलग इस बात के आधार पर किया जा सकता है कि उस कला माध्यम में यह सिद्धांत किस सीमा (degree) तक लागू किया जा सकता है । उदाहरण के तौर पर, जहाँ चित्रकला में 'काल' को क़रीब करीब स्थिर किया जा सकता है वहाँ शुद्ध संगीत कला में ऐसा कर पाना असम्भव सा है ।

इस प्रकार के चिंतन में दो बातों पर जोर देना लाभदायक होगा । एक तो यह कि बारलिंगे दार्शनिक धरातल पर अलग़ अलग़ कला विधाओं में अंतर किये जाने के प्रति न केवल सजग हैं बल्कि अत्यंत संवेदनशीलता से इस पक्ष पर प्रकाश डालने में भी सफल होते हैं। यह अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है क्योंकि कला सम्बन्धी दार्शनिक चिंतन तभी अपनी ऊँचाइयों को छू सकता है जब हम न केवल उसमें पाई जाने वाली सामान्यता (commonness) को समझें परंतु उसमें पाई जाने वाली विविधता को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी दार्शनिक धरातल पर परख सकें। निःसंदेह, बारलिंगे इस दिशा में सही मार्गदर्शन करते हैं। 'कला' अवधारणा के 'खुलेपन' को भी समझने में वे सफल होते हैं। उनके दर्शन का एक छोर जहाँ 'कला' की अवधारणा के 'परिवार' (family) स्वरूप से जुड़ा है वहाँ दूसरा छोर विधाओं की पारस्परिक भिन्नता या विविधता से भी परिपूर्ण रहता है। इसमें व्यापकता और गंभीरता का सुंदर समावेश उभर कर सामने आता है। कला अपने आप में व्यापकता का प्रतीक है। इस व्यापकता में सिमटी परतों को समझनाही विषय वस्तु को रोचक और अन्तर्दृष्टि-सापेक्ष बनाता है।

दूसरी बात यह है कि विषयवस्तु की गहनताओं में डुबकी लगाते हुए बारलिंगे दार्शनिक तत्त्व की कसौटिओं को कभी नहीं त्यागते। जब वे अनिवार्य शर्त (necessary condition) की बात करते हैं तो उनकी सजग और पैनी दृष्टि इस बात पर हमेशा टिकी रहती है कि यह कला की पर्याप्त शर्त (sufficient condition) कतई नहीं मानी जा सकती। इसका कारण यह है कि 'काल' को शून्य या स्थिर बनाने की प्रक्रिया, जिसे हम कला में मूर्तरूप लेता देखते है, वह सैद्धान्तिक रूपसे तर्कशास्त्र (logic) में भी बनी रहती है। उनके अनुसार, हमारे चिन्तन में संकल्पन (conceptualization) तथा तर्क की भी यही भूमिका है - हम किसी तर्क को समझने के लिए उसमें से गति' या 'काल' को अलग करने की चेष्टा में जुट जाते हैं। यह बात भिन्न है कि केवल कला में ही इस प्रक्रिया का सगुण और मूर्तःरूप देखा जा सकता है।

कला में विधाओं के स्तर पर भिन्नता को समझने के प्रयास को बारलिंगे ने एक अत्यंत मार्मिक और सजीव रूप दिया है। उदाहरण एक गुलाब के फूल का लेते हैं जिसे देख हम बरबस कह उठते है कि वह अत्यंत 'सुन्दर' है। परन्तु जब यह एक फूल न होकर कई फूलों का समावेश होता है जिसमें हम उनको हिचकोले लेते हुए एक-दूसरे को चूमते हुए देखते हैं तो सहज ही हम झूमने की इस गतिशीलता को भी मनमोहक या 'सुंदर' पाते हैं। पहले प्रकार की 'सुंदरता' में 'वेग', 'गति' व 'काल' को हम नहीं देखते अपितु इसके 'स्थिर' दृश्य को ही सराहते हैं और उसे सजीव रूप देने के लिए चित्रकला की विधा को अपनाते हैं। परंतु यदि हम गतिरूप सुंदरता को पकड़ना चाहें तो उसका मूर्त रूप संगीत की विधा द्वारा ही प्रस्तुत कर पायेंगे। इस प्रकार विधाओं में भिन्नता इस बात की परिचायक है कि हम 'स्थिर' सुंदरता की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं अथवा 'गतिशील' सुंदरता की ओर। पश्चिम में ५० और ६० के दशकों में सूसन लैंगर के दार्शनिक चिन्तन में हमने पहली बार कला विधाओं की भिन्नता और उसके दार्शनिक पक्ष को विषयवस्तु का केन्द्रबिन्दु बनते देखा है। लैंगर के अनुसार विभिन्न कला विधाओं में 'देश', 'काल', 'जीवन', 'स्मृति' आदि का आभास (illusion) उन्हें एक-दूसरे से अलग करता है। बारलिंगे का मानना है कि केवल 'काल' को अलग अलग सीमाओं (degrees) तक 'देश' में रूपान्तरण की प्रक्रिया के आधार पर ही हम विधाओं में आपसी भिन्नता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को समझ सकते हैं । इस प्रकार का चिन्तन निश्चय ही मौलिकता का परिचायक है ।

बारलिंगे के चिन्तन का एक और पक्ष कला तथा भाषा के आपसी सम्बन्ध से जुड़ा है । अपनी विश्लेषणात्मक प्रक्रिया को आगे बढाते हुए वे 'सुंदर' शब्द के विभिन्न प्रयोगों की ओर ध्यान खींचते हैं । जैसे कि पहले कहा जा चुका है इस शब्द का प्रयोग न केवल हम कला वस्तु के लिए अपितु नैसर्गिक वस्तु के संदर्भ मे भी करते हैं । स्वाभाविक रूप से हम इन दोनों प्रयोगों में आपसी भेद करेंगे । साथ ही, प्रश्न यह भी उठता है कि क्या हम सौंदर्य को कला का पारिभाषिक तत्त्व मानें ? इस प्रश्न का उत्तर बारलिंगे अपने निम्नलिखित कथन में देते हैं ।

"सौंदर्य और कला का संबंध किस प्रकार का है । सौंदर्य कला का भाववाचक लक्षण न होकर असुंदरता कला का निषेधात्मक लक्षण है ।" ("कला का स्वरूप", कला और सौंदर्य, पृ. ६७)

इस प्रकार जहाँ एक ओर बारलिंगे 'स्थिर सुंदरता' और 'गतिशील सुंदरता' में भेद करते हैं वहाँ दूसरी ओर वे असुंदरता को कला का निषेधात्मक लक्षण भी मानते हैं । दार्शनिक दृष्टिकोण से हालाँकि इस बारे में हम निम्नलिखित प्रश्न उठा सकते हैं। 'असुंदरता' की संकल्पना का क्या स्वरूप है ? क्या सभी कला वस्तुओं को इससे अछूता माना जा सकता है ? जबकि आज के संदर्भ में कला को 'अर्थपूर्णता' से जोड़ा जाता है, न कि सुंदरता से । स्वाभाविक है, इन तत्त्वों पर चिंतन और विचार की संभावना को हम नकार नहीं पायेंगे ।

अंत में, इस परिचर्चा को समेटते हुए हम कुछ बातों पर ध्यान आकृष्ट करना चाहेंगे : -

(१) बारलिंगे द्वारा किए गए कला सम्बन्धी दार्शनिक चिंतन की विशेषता उसमें पाइ जानेवाली गतिशीलता है । उन्होंने कुछ जटिल प्रश्नों पर प्रकाश डाला है जो उन्हें कला सम्बन्धी समकालीन चिंतन के मूल स्रोत से पूरी तरह जोड़ता है । साथ ही उनके चिंतन में कुछ ऐसे मौलिक तत्त्व भी हैं जिनपर वे अपने सशक्त व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ गए हैं ।

(२) बारलिंगे ने कला को कई परिप्रेक्ष्यों में समझने और परखने की चेष्टा की है । उनकी वैचारिक परिधि की व्यापकता का परिचय इस बात से आँका जा सकता है कि जहाँ वे एक ओर विश्लेषणात्मक चिन्ताधारा से जुड़कर कला की परिभाषा के लिए पर्याप्त शर्त (sufficient condition) को न खोज पाने की बात करते हैं वहीं दूसरी ओर कला को जीवन के परिप्रेक्ष्य में देखते हुए उसकी सार्थकता पर भी आलोकपात करते हैं ।

(३) जहाँ बारलिंगे इस प्रश्न को उठाते हैं कि क्या सौंदर्य मीमांसा को एक शास्त्र माना जाना चाहिए या नहीं वहीं दूसरी ओर वे उन कसौटिओं (paramet

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की भी चर्चा करते है जिनके आधार पर कला मर्मज्ञ किसी भी कलाकृति को समझने की चेष्टा करता है तथा उसके आस्वादन में समर्थ हो पाता है।

(४) उनके चिंतन की यह भी एक विशेषता है रही कि जीवन में कला का सार्थकता को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कला तथा तर्क और भाषा के बीच वे सम्बन्ध और तनाव का भी रेखांकन किया है ।

(५) अंत में यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि स्वातंत्र्योत्तर भारत की दार्शनिक विभूतिओं में प्रथम श्रेणी के चिंतक सुरेन्द्र बारलिंगे सौंदर्यशास्त्र में अपनी मौलिकता की स्पष्ट छाप छोड़ गए हैं । कला के प्रति उनकी दार्शनिक अन्तर्दृष्टि आनेवाले को प्रेरित करती रहेगी ।

दर्शन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
नई दिल्ली.

रंजन घोष

इस लेख के मसौदे में भाषागत त्रुटिओं को सुधारने में मेरी सहायता के लिए मैं डा. सुरेश धींगड़ा (हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय) का आभारी हूँ ।

■

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिंदी)

(त्रैमासिक पत्रिका)

दर्शन एवं साहित्य पर वैचारिक चिंतन प्रस्तुत करनेवाली पत्रिका दर्शन, साहित्यशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान के अध्यापक, संशोधक, छात्र एवं प्रेमी पढते हैं ।

विज्ञापन की दरें

१/८ डिमाई साईज	एक अंक के लिए रु.	चार अंको के लिए रु.
१/४ पृष्ठ	१२०/-	४२०/-
१/२ पृष्ठ	२००/-	७००/-
पूर्ण पृष्ठ	४००/-	१४००/-
कव्हर पृष्ठ.३	६००/-	२१००/-
कव्हर पृष्ठ.४	८००/-	२८००/-

आप आपकी संस्था / प्रकाशन / उत्पादन का 'परामर्श (हिं)' में विज्ञापन देकर पत्रिका की मदत कर सकते हैं ।

विज्ञापन की प्रति एवं शुल्क मनीऑर्डर या बँक ड्राफ्ट से निम्नंकित पते पर भेजें -

प्रधान संपादक,
परामर्श (हिंदी)
दर्शन-विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे ४११००७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रो. बारलिंगेजी द्वारा
आनन्द-कला-काव्य-रस-सौन्दर्य-विवेचना

यह लेख, दिवंगत बारलिंगे जी की दो तात्त्विक पुस्तकें - जो हिन्दी में भी प्रकाशित हैं - किन्तु अब शायद बाजार में आसानी से उपलब्ध नहीं - उनकी ही सारवत्ता पेश करने का एक संक्षिप्त प्रयत्न है। पुस्तकों के शीर्षक हैं : "सौन्दर्य-तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त"; "कला और सौन्दर्य"। क्रमशः १९६३ और १९९० में इनका अनूदित और मौलिक रूप में संग्रथन हुआ था। किन्तु अभी तक अधिकांशतः इनका महत्त्व मौजूद है। अतः मेरी राय में, इनका एकत्रीकृत और भी एक "चुस्त-दुरुस्त" नया संस्करण सुकाम्य है।

यह ठीक है, कि पिछले एक-दो दशकों में संस्कृति की पाँच मुख्य धारणाओं में बहुत-कुछ चिन्तन हुआ है; और वह सभी तरह, सर्वत्र सदा विचार्य रहेगा। दिवंगत बारलिंगे जी ने इन से संबंधित जो बुनियादी एवं मौलिक ऊहापोह की है वह सचमुच बेजोड़ है। उनकी दार्शनिक मनीषा की और विविध क्षेत्रों में अर्जित अनुभूति - समृद्धि की यही तो अन्यतम विशेषता थी कि वे सर्वथा अपनी सब पर छाप छोड़ जाती हैं। मसलन, उनकी दो और अंग्रेजी में प्रकाशित पुस्तकें लें : (1) Beliefs, Reasons & Reflections (1983); (2) Poverty, Power & Progress (1983)। किसी भी कृति में बारलिंगे जी के सुलझे सुझावों की स्वल्पता नही हैं। शुरू से ही "गुरुजी" के अनुभव-अनुभूतियों का धरातल इतना व्यापक रहा कि उसमें सब कुछ समा लेने की स्वतःस्फूर्त शक्ति संचित बनी रही।

भारतीय प्रज्ञा-परिधि में अमूर्त का मूर्तिविधान कब, कहाँ और कैसे और कैसा हुआ और होता आ रहा है यह प्रायः सभी जानते हैं। शायद इसीलिए कुछ लोग तो व्यक्ताव्यक्त और / या भेदाभेद के द्वन्द्व से अभी तक उबर ही नहीं पाये। अथवा, उनमें वे कोई सामंजस्य नहीं खोज पाते। उन्हें यह बहुत-कुछ 'अद्भुत एवं रहस्यमय' लगता है। बारलिंगे जी इस 'मर्ज' से अछूते रहे थे। वे अपनी तर्क-युक्ति-प्रतिष्ठित विचार-विद्या से अमूर्त-मूर्त की गुत्थियाँ सुलझाने में सदा अग्रणी बने रहते थे। कहना चाहिए कि 'वागर्थ की प्रतिपत्ति' में वे अनवरत जीवन भर व्यस्त रहे थे। जैसे, सृष्टि-स्थिति-संहार; सत्-असत्-सदसत्; ब्रह्म-जीव-माया; धर्म-अर्थ-काम; याकि फिर, ब्रह्मा-विष्णु-महेश की दिव्य मिथकीय प्रतीक अवधारणाएँ - सभी शाब्दिक "प्रत्ययों" पर उनके साथ बहस करने और उनकी नई-नई उद्भावनामयी व्याख्याएँ सुनने से हम सभी शिष्यों को बौद्धिक लाभ प्रायः हुआ करता था। मैं भी उनमें से एक हूँ। हमेशा ही उनके प्रति कृतज्ञ रहूँगा।

यहाँ हम उनकी दो हिन्दी पुस्तकों पर आधारित एवं शीर्षक में दिए कुछ विषयों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की संक्षिप्त चर्चा करते हैं। पहले आनंद ही को लें - अकारादि क्रम से। 'भरत मुनि के रस-सिद्धान्त (३)' लेख में इसकी अच्छी-खासी चर्चा है। आनन्द या हर्ष रसास्वाद का सहचर या परिणाम होता और हो सकता है। 'कलाकार और कलासर्जकों की मानसिक स्थितियों में भी इसका साहचर्य रहता है, वैसे ही अभिनेतृवृन्द और सूत्रधार आदि जो रंगकर्मी नाट्यनिर्मिति पेश करते हैं उस वक्त भी आनन्द का अनुभव हो सकता है। किन्तु ये तीनों प्रकार के आनन्द समान-गुण-धर्मा नहीं। ध्यान रहे कि यहाँ " आनन्दं ब्रह्म। आनन्दात् हि वा इमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयान्ति, अभिसंविशन्ति वा।" - इन उपनिषदुक्तियों में, या रस को 'ब्रह्मानन्दसहोदर' कहनेवालों की धारणाओं में, 'सच्चिदानन्द' रहनेवालों की मान्यताओं में संदर्भित 'आनन्द' की बातें यहाँ नहीं की जा रहीं। बारलिंगे जी भी यह नहीं मानते थे कि, आनन्द समस्त कलाओं का एकमात्र उद्देश्य या हेतु है। किन्तु वे अभिनवगुप्त के आनन्द-सिद्धान्त को भी नहीं नकारते थे। उनका आशय अपने लेख में सिर्फ इतना ही रहा था कि, भरत के नाट्यशास्त्र में 'रस' शब्द का उपयोग आनन्दवाचक नहीं है। भरतमुनी केवल यही मानते थे कि रस के विना कोई अर्थ नहीं सधता। रस व अर्थ वागर्थ की तरह संपृक्त हैं। यह संपृक्ति वागर्थ-प्रतिप्रत्ति के लिए जरूरी है। हमें यहाँ कालिदास के 'रघुवंश' का प्रथम श्लोक - " वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ-प्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।" - तथा एक लोकोक्ति -" अरसिकेषु कवित्व-निवेदनं शिरसि मा लिख, मा लिख मा लिख। याद आते हैं।

बारलिंगे जी तो उत्तम कोटि के कला-काव्य-सौन्दर्य-मर्मज्ञ थे।- मनोज्ञता में माहिर, रसज्ञता में बेजोड़! इसीलिए वे प्रथा-परम्परा-प्रयोग-परीक्षण- इन सब में युक्ति-युक्त-संगति के, अथवा, केवल चिरागत "मुक्ति" ही नहीं "मुक्ति" के पक्षधर थे। उनका यह मत कि, 'रस' और 'आनन्द' एक नहीं हैं। उनमें कार्य-कारणवत् या कालवाचक संबंध हो सकता है। जैसा कि रस और अर्थ में है।

उन्हें पंडितराज ('रस-गंगाधर' के प्रणेता) जगन्नाथ की यह परिभाषा कि, "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" अधिकांशतः सही लगती थी। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' और 'काव्येषु नाटकं रम्यम्'- इन दोनों बातों में संगति भी बैठ सकती है, यदि हम यह मान लें कि रस का अर्थ नाटक में, नाट्यकला में, 'स्थायीभाव' है।

वे यह भलीभाँति जानते थे कि उनका यह मत आनन्दवाद सुखवाद (Hedonism) नहीं है। आनन्द तो दुख-सुख कि द्वन्द्वात्मकता से परे की "वस्तु" या आस्वाद्य है। प्रकृत या सचमुच अनुभूत आनन्द के अधिकारी तो वे हो पाते हैं, जो "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः" होते हैं। किन्तु इसका यह मतलब भी नहीं कि, आनन्द परमात्मा, परमतत्त्व या परब्रह्म की तरह 'अवाङ्मनसगोचर', अज्ञेय एवं अव्याख्येय, अथवा एकदम अगम्य है। आखिरकार, सर्जना या सृजन (एकोऽहं बहु स्याम्) भी तो आनन्द का ही एक स्रोत है। या कहें कि, आनन्द कला, शिल्प एवं सृष्टि का स्रोत है। यह "अण्डा या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मुर्गी-कौन पहले " जैसी प्रहेलिका है, नीहारिका में रूप एवं आकृति की खोज है, प्रकृति-पुरुष का सामंजस्य है। निरन्तर ज्ञान-गमन-प्राप्ति-स्वरूपा, अनवरत गति-शीला आत्मिक अनुभूति है आनन्द- परमास्वाद्य, परमाराध्य। इसीलिए तो ये वाक्य हैं- "नेति, नेति। चरैवेति, चरैवेति" जो किसी भी साधना के मंत्र बन सकते हैं।

एक वाक्य में कहें तो, बारलिंगे जी के अनुसार, किसी भी 'रस' की तरह 'आनन्द' भी आस्वाद्य उपभोग्य है एवं प्राप्य होने के नाते उसका स्वातंत्र्य समपेक्षित है - आस्वादक और आस्वाद की अधीनता कतई नहीं। किन्तु आस्वाद्यत्व आनन्द का धर्म हैं, गुण नहीं। जैसे वस्तु की वस्तुता या वस्तुत्व वस्तु का धर्म है, गुण नहीं।

कला को हम सामान्यतः शिल्पी या कलाकार, सृजनशील प्रतिभाशाली कवि अथवा अन्य किसी भी सर्जक व्यक्ति के मनोभावों अनुभवों एवं अनुभूतियों, कल्पनाओं का रूपायन, मूर्त्तीकरण अथवा वस्त्वीकरण समझते हैं। कलाओं के माध्यम तो वे सभी द्रव्य बन सकते हैं जो अपने अपने तन्मात्र- शब्द, रूप, रस- के आधार हों। बारलिंगे जी कहते थेः "किसी भी अर्थ में, स्पर्श गन्ध जिनका क्षेत्र हो ऐसी कोई भी ललित कला नहीं है, वे भी शब्द, रूप तथा रस में अन्तर्भूत हो जाते हैं।" वस्तुतः ऐसा नहीं है। कई जगह सुकोमल, सुगंधित कलाकृतियाँ प्रकृति के पुष्पों से, मीठे फलों आदि से अधिक आकर्षक बनाये जाते हैं। उत्कृष्ट अभिनय एवं नाट्यकला द्वारा गन्ध एवं स्पर्श के आनन्द को भी "आस्वाद्य" बनाये जाते हैं। आज कल तो वस्तुतः ऐसा कुछ भी नहीं रहा जो रंगशाला में रंगमंच पर रंगकर्मियों द्वारा "पेश" नहीं किया जा सके। सिनेमा भी उसीका एक तकनीकी प्रकार है।...

बारलिंगे जी ने किन्तु एक काफी अच्छा नमूना पेश कर अपनी बात समझाई है : "खेल का नियम दर्शन है और उस खेल का प्रस्तुतीकरण कला है।" - यदि हम दार्शनिक दृष्टि से समस्त सृष्टि को 'लीला-खेल" मान लें ("लीला-खेलमिदं जगत् ") तो अभिव्यक्तिमात्र कला कही जा सकती है। कला के माध्यम कुछ भी हो सकते हैं। कलाकार अब कल्पना-बिलासी दर्शनों की ख़ाम - ख़यालियों में खोये अथवा बालकी निकालनेवाले ऊहापोह-व्यस्त अथवा व्यवहार एवं प्रबन्ध में अकुशल लोग नहीं रहे। पहले भी नहीं रहे थे। कलाएँ भी केवल ललित कलाएँ ही नहीं रहीं। वे मानवता की अवच्छेदिकाएँ हैंः" संगीत-साहित्य-कला-विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छ-विषाण-हीनः।" (मर्तृहरि) आज सर्वाधिक सार्वकालिक, सार्वत्रिक सत्य, शिव, सुन्दर की सम्वाहिका, सम्प्रेषिका, समुपस्थापिका कलाएँ सारे-ज्ञान-विज्ञानों, तकनीकों एवं संसाधनों के उपयोग पर पिल पड़ी हैं। असल में, यह ही है जो कृतियों में भंगुरता के बावजूद शाश्वतता, सातत्य का समावेश करती है।

बारलिंगे जी ने बड़े पते की एक बात यह कही हैः "भाषा-विचार-संप्रेषण एक साधन है।... वास्तव में सभी कलागत वस्तुएँ संप्रेषण की साधिकाएँ मानी जाती हैं।... मूलतः भाषा हमारे ज्ञान का एक प्रतीकात्मक चित्रण अथवा रचना है। सामान्यतः एक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE Grant-2

चित्र, मूर्ति, नृत्य अथवा एक नाटक भी भाषा की तरह हमारे ज्ञान एवं विचार-संप्रेषण के माध्यम हैं। एक दृष्टि से समस्त कलागत वस्तुएँ भाषा का एक प्रकार हैं।" - सचमुच, शब्द या नाद - चाहे व्यक्त हो या अव्यक्त - सर्जना और सम्प्रेषण का युगपत्सामर्थ्य रखते हैं। अतः मोटे तौर पर शब्द की तीन शक्तियाँ - अमिधा, लक्षणा, व्यंजना- स्वीकृत हैं। वस्तुतः ये असीम, अनन्त हैं। संगीत ही नहीं, आहें, चीखें, अस्फुटित स्वर सभी के द्वारा ये शक्तियाँ प्रतिफलित होती रहती है। जैसे प्राकृतिक ऊर्जा ताप, प्रकाश और शब्द या ध्वनि के द्वारा ऊर्जा और शक्ति स्वतः अभी तक अपरिभाषेय ही हैं। इनके सारे रूप कार्य आदि परस्पर परिवर्त्य हैं इसीलिए इनकी ठीक-ठीक परिभाषा की गुत्थी कोई नहीं कर सका, या सकता। पदार्थ-विज्ञान को भी अन्ततः "शून्य" हाथ लगता है।

कलाकृतियों द्वारा कलाकार अपने अनुभव, अनुभूति, कल्पना, विचार केवल संप्रेषित करते हैं, संवादित या संभाषित नहीं। अन्यथा उनमें दर्शक श्रोतृ-वर्ग या संग्राहकों की प्रतिक्रियाओं का तुरंत असर पड़ता। उनमें परिवर्तन किए जा सकते हैं। वस्तुतः ऐसे परिवर्तन नई अभिव्यक्तियाँ बन कर ही पेश होते हैं-, प्रदर्शनी और समीक्षाओं के बाद।

संप्रेषण की संरचना सभी सजीवों को प्राकृतिक भाव से उपलब्ध रहती है। किन्तु इसका सफल-समर्थ विकास मानव-जाति में ही सर्वाधिक होता है। प्रशिक्षण से उस में चार चाँद लग जाते हैं। "नव-नवोन्मेषशालिनी" प्रतिभा के उपयोगार्थ कलाकार जितना सशक्त रमणीय नित नये प्रयोग करते हैं, वे उतने ही पुरस्कृत और यशस्वी होते रहते हैं, । किसी कवि ने कहा है : 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।'

कला का मूल्यांकन, सच पूछिए तो, एक-दो शब्दों के वाक्य द्वारा हो सकता है। इसके लिए "वर्णनात्मक भाषा या आलोचना की जरूरत नहीं। आलोचना से साहित्येतर कला का सौंदर्य बढता नहीं घटता है।" कला का सांगोपांग विवरण कला में निकृष्टता पा सकता है। सौन्दर्यानुभूति नष्ट-सी हो जाती है। किसी कलाकृति के बाह्य आयाम - लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, रंग, आकृति, आदि के भाषिक वर्णन से आलोचना नहीं विडम्बना ही जाहिर होती है। बारलिंगे जी का यह मत कोई फतवा नहीं याथातथ्य विचार है।

किन्तु साहित्यिक कृतियों की समालोचकीय भाषा से उसके मूल्यांकन में सहायता मिलती है। वह दुबारा अनुभवनीय हो उठती है। 'आलोचना को वस्तुतः खुर्दबीनी (माईक्रोस्कोप) कार्य करना चाहिए।" साहित्यिक कलाकृति के समग्र सौन्दर्य को सामान्य अनुभविता के समक्ष विवर्धित रूप में पेश करने मूल्यनिर्णय में मदद मिलती है। "साहित्य-समालोचक लेखक और पाठक के बीच दुभाषिया है।" अतः साहित्य - समालोचना भी दोयम दर्जे की ही सही, 'सर्जना' ही मानी जाय।

साहित्य-कला का माध्यम भाषिक होने से उसमें सर्वांगीण गतिशीलता आ जाती है, उसमें भाषा विषयक अवधारणाएँ भी समाविष्ट रहती हैं। अत एव साहित्यिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समालोचना को कृति की "भाषा" की संपूरिका होना जरूरी है। यदि कृति की भाषा गूढ, दुरूह हो तो वह समालोचना द्वारा सर्वतः स्पष्ट एवं अर्थ की गरिमा से अनुप्रणित की जा सकती है। किन्तु जहाँ कृति का भाषिक कलेवर सीधा, सादा, निरलंकार प्रसाद-गुण-समन्वित है, वहाँ आलोचना की भाषा यदि दुरूह या लफ्फाजी हो उठे तो वह "मघवा मूल बिडौजा टीका" जैसी बात है। बारलिंगे जी ने यह एक वाक्य में कह दिया है: " अर्थवाही होना भाषा का आद्य लक्षण है।" - उनकी राय में आलोंचना शब्दाडम्बर से मुक्त रहनी चाहिए। भाषा वही फलती है जब और जो अपनी अभिव्यक्ति और संप्रेषण क्षमता नहीं खो देती। वह अपनी प्रतीकात्मता बरकरार रखती है। उसे ध्वनि, भावमुद्रा, नृत्य, चित्र, स्वर-संघात आदि में रूपांतरित कर सकते हैं। किन्तु इसका मतलब यह कदापि नहीं कि किसी भी शब्द को मनमाना या अप्रचलित अर्थ देकर भाषा-विकास के नियमों की निरंकुशता प्रदर्शित करने से निछक पाण्डित्य ही प्रमाणित होता है। बारलिंगे जी ने यह स्पष्ट किया है कि शब्द और शब्द-प्रतीक-ध्वनि में अभेद और शब्द तथा अर्थ में भेद मानने या समझने से अनेक भाषिक विकृतियाँ सामने आती हैं। उनका यह विचार भी अवधेय है कि साहित्यिक कलाकृतियों की आलोचना में जैसी संवाद-लय आ सकती है वैसी साहित्येतर कलाओं की आलोचना में नहीं आ सकती । हां, यह अवश्य संभव है कि साहित्येतर कलाओं का विवरणात्मक स्पष्टीकरण छात्रों के प्रशिक्षणार्थ किया जाय। वे यह भलीभाँति बतलाते हैं कि साहित्येतर कलाओं में साभिप्राय अर्थ गौण रहता है किन्तु साहित्य और उसकी आलोचना में भाषिक स्तर समानया अर्थाभिमुखी रहता है। साहित्यिक कृति की अर्थ-मीमांसा में मूल्यांकन निहित रहता है किन्तु साहित्येतर कलाकृतियों के मूल्यांकन भाषिक संप्रेषण की समस्या नहीं रहती, वह प्रत्येक व्यक्ति की निजी बात बन जाती है।...

कला की सर्वमान्य परिभाषा असंभाव्य मानकर बारलिंगे जी अपना अभिप्राय-यथासंभव-इस वाक्य से करते हैं: गीत, वाद्य, नृत्य, (संगीत) साहित्य, नाट्य (अभिनय), चित्र, वास्तु, (स्थापत्य) आदि कला प्रकारों से अभिव्यक्त सारे अनुभव कला शब्द से जाने जाते हैं। हरेक कलात्मक अनुभव अनन्य हो सकता है। मुझे उनकी यह बात बहुत पसन्द है कि कोई भी कला कृति और कृति के आस्वादक बीच का खेल है।

एक तरह से देखें तो लगता है कि कला तो मात्र खेल, खिलाड़ी, खिलौनों का समन्वय है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय -इस त्रिपुटी की लय है जैसे समस्त व्यक्त सत्ता। कला इस सत्य का हृद्य, मनोरम, व्यावहारिक रूपायन है। कलाकार या कला-स्रष्टा, कलानिर्माता कलाविधि, कला-तकनीक, कला - कारीगरी, कलाशिल्प, कलाकारिता, कला-विद्या, कला-मर्मज्ञ, कला-रसिक (दर्शक, भोक्ता, श्रोता, अवगाहक, आस्वादक, प्रशंसक, मूल्य-निर्णायक) कलाकृति, कलात्मक वस्तु, कला का प्रचार-प्रसार, कला प्रशिक्षण - सभी हमें कला को जानने, पहचानने, समझाने की ओर प्रवृत्त करते हैं।

और एक तरह से देखें तो कला-कृति-कार से लेकर कलाकृति के रसिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(आस्वादक, भोक्ता, दर्शक, श्रोता आदि) बीच के सारे क्रिया-कलाप कला-व्यापार अपने विशेष माध्यमों द्वारा संपन्न होते हैं. कभी कभी इन माध्यमों को ही कलाओं के विभिन्न नामों का गौरव मिल जाता है । इसीलिए कला को क्रीडा माना जाय तो ठीक ही है । कला-माध्यम कला-संदेश को मूर्तता देता है । कला को अभिव्यक्ति समझना भी इसीलिए भूल नहीं स्वीकृति है । कलाभिव्यक्ति यदि ठीक से संप्रेषण-क्षम न हो तो वह नकल या कौशल अथवा कारीगरी ही मानी जाती है । इसीलिए निर्मित वस्तुमात्र कलाकृति नहीं बन पाती । कलाकृति में मनोभाव, वस्तुता और आस्वाद्यता इसीलिए अत्यन्त जरूरी हैं।

कला के स्वरूप, लक्षण, ज्ञान और कला का संबन्ध; कला-निर्मिति या प्रस्तुति, उद्देश्य, आवश्यकता; भावनामय अनुभव, सौंदर्य, विधाएँ; तथा- कला की भाषा और पद्मबन्ध पर विचारते समय बारलिंगे जी की प्रवणता के अनुभव होते हैं । ' हर कदम महसूस होता कुछ नया पाया ।'

समस्त कलाओं के निरपवाद गुण जानकर भी कला की सर्व-सम्मत व्याख्या अथवा परिभाषा मुश्किल है । कारण, कला शब्द अब नानार्थक हो गया है । कला तो निरवयव वस्तु नहीं अतः उसके सारे घटकोंका निश्चयन भी आसान नहीं है । फिर भी कला के गुणों का आकलन जरूरी है । सौंदर्यानुभूति इन में सर्वप्रथम है । कल्पना, द्वितीय नवीनता, तृतीय व्यक्ति-निर्भरता, चतुर्थ ज्ञानसे समानता, पंचम । कारण, व्यक्ति-निर्भर होने के साथ ही कला वस्तुनिष्ठ भी होती है । प्राकृतिक वस्तुओं की तरह कलाकृतियाँ भी प्रतिवस्तु कही जा सकती हैं- व्यक्ति-कल्पना से मण्डित, प्राकृतिक अथवा कृत्रिम उपादानों से समायोजित, निर्भित, विहित, प्रस्तुत । कला एक तरह से वस्तु की ही अभिव्यक्ति है- सम्प्रेष्य एवं कल्पनामयी । सुंदर एवं आनन्द-प्रद । कला सचमुच ही निछक सर्जना होती है । कलाकार में या कला-सर्जक में निर्मातृत्व या विधातृत्व और रसिकता दोनों समाहित रहती हैं । किंतु मात्र रसिक में आस्वादकत्व ही होता है । सर्जकत्व विशेष नहीं, कलाकारिता तो एकदम नहीं होती । सर्जना और आस्वादन पृथक्-प्रक्रियाओं की अपेक्षा रखते हैं । " कला-संवेदन ज्ञान-सदृश होने पर भी सदा ही ज्ञान से भिन्न होता है ।" इन्द्रिय-सन्निकर्ष लगभग दोनों में ही समानतया रहता है । परंतु "सृष्टि के वैयक्तिक अनुभवों को अपनी भावनाओं के साँचों में उँडेल कर" साकारता प्रदान करते है केवल कलासर्जक । स्वभावतः कला याथातथ्य ज्ञान से अलग है । कला की यही अनन्यता या विशेषता है । कला की अभिव्यक्ति में अनुभव अहं-सापेक्ष या अहं-निरपेक्ष यह निस्संदेह परमविशिष्ट तथ्य है कि प्रत्येक कलाकृति में कृति के प्राण फूँके रहते हैं । इसी से वह नैसर्गिक वस्तु-ज्ञान से अधिक प्रभाव डाल पाती है । वह तर्क-कर्कश नहीं, भाव-मृदुल होती है । कला की सृजन-प्रक्रिया में अनुभूतियाँ शुष्क ज्ञान से नहीं, भावना कल्पना, सौंदर्य से अनुप्रणित सशरीरी हो उठती हैं ।

हम यह कह सकते हैं कि अत्याधुनिक "कम्प्यूटर-कला-कृतियों की अपेक्षा वैयक्तिक कलाकृतियाँ सदाही उत्कृष्ट रहेंगी । कारण वे पूर्णतः नियोजित नहीं होती/

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मूलतः कलाकार की अनुभूति जैसे मूर्त हो पाती हैं- माध्यम कुछ भी हो- वह ठीक वैसी नहीं होतीं जो अभिव्यक्ति से पहले किसी भी कृति के मनोगगन में धुँधली सी छाई रहती हैं। इसी भाती में कला मात्र कारीगरी नहीं; और न वह अनुसंधानी गवेषणा या कुछ नये की आविष्कृति कही जा सकती है। वह तो वस्तुतः सौन्दर्य की सशक्त अभिव्यक्ति एवं प्रतिमूर्ति ही बनती है। देवता की प्रतिमा की तरह प्राण-प्रतिष्ठा से सम्पुटित स्वकीयता से ओत-प्रोत।

किन्तु सौन्दर्य भी कला का अनन्य व्यक्च्छेदक नहीं है। कुछ सौन्दर्यतत्त्वज्ञ, कलामर्मज्ञ भले ही ऐसा मानें और निसर्ग या प्रकृति को सर्वोच्च कलाकार कहें, बारलिंगे जी का मत यह नहीं। कारण, यह शब्द "सुन्दर" विशेषण के रूप में भले ही एक हो, अर्थ में एक नहीं होता। उनकी दृष्टि से नैसर्गिक सूर्यास्त का सौन्दर्य और उसके श्रेष्ठ चित्रण का सौन्दर्यानुभव भी "यकसाँ" नहीं होते न ही सूर्यास्त पर लिखी कविता या तत्संबंधित स्वरबद्ध रचना द्वारा सांगीतिकी अभिव्यक्ति। वैसे, समस्त ज्ञान-प्रक्रिया में अनुभव-अनुभूति तो रहते ही हैं। विज्ञान भी यह अब स्वीकार रहा है कि द्रष्टा या दृष्टी से प्रभावित हो रहता है कोई भी दृश्य। बारलिंगे जी भी यह स्वीकारते हैं कि नैसर्गिक सौन्दर्य और कलाभिव्यक्ति के सौन्दर्य में आधाराधेय जैसा कोई संबध है; अन्यथा, सौन्दर्य-कल्पना ही दुरूह होगी। अपनी तार्किक बुद्धि से वे यह भी मानते हैं कि "सौन्दर्य कला का भावात्मक न होकर असुन्दरता (अवश्य ही) कला का निषेधात्मक लक्षण है।" सौन्दर्य को कलाकृति का अंश मानने में उन्हे कभी कोई आपत्ति नहीं रही।

किन्तु सुन्दर को वह भाववाचक विशेषण नहीं मानते हैं। इसी से सौन्दर्य को कलाकृति का एकमेव घटक भी नहीं स्वीकारते हैं। सौन्दर्य की व्याख्या वे साम्य, विरोध, समतुल्यता इत्यादि शब्दों द्वारा करना ठीक नहीं समझते हैं। उन की राय में, ऐसे सारे शब्द जो सौन्दर्य को स्पष्ट करते हैं, उसे पारिभाषित नहीं कर पाते। वे सौन्दर्य के वस्तुतः अर्थ नहीं, चिह्न मात्र हैं। उनका कहना है कि, "कलाकृति का कलाकृतित्व निश्चित करते समय उसे केवल सौन्दर्य की कसौटी पर कसने से काम न चलेगा," क्यों कि साम्य, विरोध, समतुल्यता आदि से निर्धारित सौन्दर्य तो निसर्गकृतियों में कलाकृतियों जैसे ही दिख पड़ता है।

कलाकृतियों और निसर्ग-कृतियों में पर्याप्त अन्तर बारलिंगे जी सौन्दर्य से नहीं निर्माण-प्रक्रिया से करते थे। कला-सौन्दर्य की विशिष्टता वैयक्तिक निर्मातृत्व से आती है। यह ठीक है कि निसर्ग की प्रतिकृतियाँ भी सुन्दर होती हैं। किन्तु ये तो कला के प्राथमिक मूर्तिकरण में ही शामिल हो पाती हैं। इसी प्रकार साम्य, विरोध और समतुल्यता के अतिरिक्त वे अंगांगि-भाव-संबंध और सगतिक (गति-प्राणा) स्थिति को भी सौन्दर्य चिह्नों में ही शुमारते थे। मंसलन,पंखुड़ियोंवाले प्रसून और अगतिक स्थिति‍मयी विद्युल्लता। ऐसा नैसर्गिक सौन्दर्य कलाकृतियों की सुन्दरता में कलासर्जक भी भावनाप्लुत होकर पेश करते हैं। अतः उनका सौन्दर्य विशिष्ट हो उठता है। यह तत्त्व चित्र, काव्य,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मूर्ति, सांगीतिक स्वर-संगठन, नृत्य, नाट्य आदि सभी में विराज सकता है। प्रकारभेद की बात अलग है। प्रक्रियाएँ भी अलग तरह की हो सकती हैं। इसी प्रसंग में बारलिंगे जी का यह कथन अवधेय है : "पार्थिव साम्य पर आधारित कलासौन्दर्य अत्यन्त प्राथमिक स्वरूप होता है, यह समझाने की आवश्यकता नहीं है।" परन्तु प्राकृतिक साम्य से धीरे-धीरे हम इस वैचारिक अथवा मानसिक साम्य की ओर आकृष्ट होते जाते हैं और सत्य के साक्षात्कार से हमें सौन्दर्य का वास्तविक दर्शन भी होता है।" "स्पष्ट है कि ऐसा सौन्दर्य-दर्शन हमें केवल किसी कलाकृति में ही प्राप्त हो सकता है।" - कहना न होगा कि बारलिंगे गुरुजी ने इस तरह तथाकथित "अमूर्त कला" (Abstract Art) का महत्त्व भी स्पष्ट प्रतिपादित कर दिया था। उनका यह निर्देश और भी अधिक महत्त्व रखता है कि, "नैसर्गिक और कला कृति का साम्य ही नहीं वैषम्य भी कलाद्वारा सुन्दर हो उठता है।" "निसर्ग की कुरूप वस्तुका चित्रण भी सुन्दर हो पाता है।" सत्यसृष्टि की कुरूप एवं सुन्दर वस्तुएँ कभी यकसाँ नहीं होतीं। परन्तु उनकी प्रतिकृतियाँ हमें प्रायः समानतया सुन्दर लगती हैं। कलाकारिताही विभिन्न साम्य-विरोध-संतुलनों का ठीक उपयोग करके नई नई सुन्दर वस्तुएँ बना देती है। कला द्वारा वस्तुतः प्रतिसृष्टि होती है।

कला सौन्दर्य-प्रतीति के प्रसंग में प्रतिनिधित्व या पुनर्निर्माण संश्लेषण-विश्लेषण, प्रतिक्रिया अथवा व्याख्या के प्रश्नों पर विचार बहुत आवश्यक है। किन्तु मुख्य बात यह है कि, हम कला के सभी अंगों को स्फुट अवयव मानकर विचार नहीं करते, वरन उन पर समग्रतया ही सोचते-समझते हैं। समग्रता की अनुभूति में ही सौन्दर्य निहित रहता है जिसे कलाकृतियाँ स्पष्ट करती हैं। इसीलिए नैसर्गिक असुन्दर वस्तुका भी सुन्दरीकरण संभव होता है। अथवा, यों कहिए प्रकृति में असुन्दर नहीं अपूर्ण संघटित पदार्थ होता है - प्रायः रूप-बन्ध-रहित।

कला के घटक चाहे पार्थिव हों या मनोमय उनकी प्रभाव-शालिता जरूरी है। जाहिर है कि उन्हें अस्तित्ववाचक होना पड़ता है, अन्यथा वे कला के काम नहीं आ सकते। सौन्दर्य उनका उद्देश्य होता है, विधेय नहीं। कला में इसीलिए व्यक्ति-निर्मातृत्व या व्यक्ति-तंत्र का करिश्मा कभी अस्वीकारा नहीं जा सकता। परिणाम यह कि कला-सौन्दर्य भी अंगांगि-भाव-संबंध की मनोमयता के आधिक्य से उभरता है। कला के अंग, अंश, अवयव नैसर्गिक हो या काल्पनिक - उनकी एक समग्र में रूपांतरित स्थिति हो अपनी गतिमयता के साथ निरवयव सौन्दर्य को प्रकट करती है। वही उसका यथायथ संप्रेषण करती है।

कला-मीमांसा करते वक्त जो मुख्य प्रश्न उभरते हैं वे ये हैं : कला और कारीगरी (कौशल, शिल्प) का पारस्परिक संबंध, कला का सांस्कृतिक मूल्य, कला की मानसी (मानुषी) पृष्ठभूमि, कला-निर्मिति-संबद्ध समस्याएँ, कलास्वादन की विशेषताएँ। बारलिंगे जी कहते हैं कि कला-निहित अधिकाधिक गुणों को अन्वेषण एवं वर्गीकरण, एवं भ्रान्ति-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निराकरण भी कला-मीमांसा की समस्याएँ हैं जो दिन-प्रतिदिन उभरती आ रही हैं। और वे अपने हल सदा-सर्वत्र ढूँढती हैं। आखिरी बात तो कभी नहीं कही जा सकती है, न ही वह जरूरी है। विवेचना जारी रहनी चाहिए - सर्वथा ।

यों तो सारी कलाओं के सारे माध्यम "कला-भाषा" इस सामान्य संज्ञा से अभिहित हैं। लेकिन यह बहुत ही विवादास्पद एवं संदिग्ध संज्ञा शब्द है। इसके चल पड़ने का कारण शायद यह है कि "भाषा" कहने से हम सूक्ष्म भाषिक व्याख्यानुरूप विचार कर सकते हैं। रंग एवं रेखाएँ चित्रकला की, स्वर एवं श्रुतियाँ संगीत की "भाषा" कहलाते हैं। बारलिंगे जी इस बारे में अपनी नापसंदगी जाहिर करते हुए कहते हैं कि, कला-सृजन के समय हुई सारी संकल्पना पूर्वानुभव, पूर्वचिंतन, निहित उद्देश्य, संप्रेषणता आदि का विचार एवं मानदण्ड - ये सभी वे "कला की भाषा" में शुमारते हैं किन्तु मुख्य तत्त्व है वह कौशल, जो कला की संप्रेषणीयता को सक्षम करता है। और इसका आधारभूत होती हैं मानवीय प्रतिभा एवं कुशलता। कुशल, प्रतिभाशाली व्यक्ति यदि नक़ल ही करे तो भी उसमें एक प्रकार की कुशलता, तपस्या, शिल्पाभ्यास समाहित रहते हैं।...

यही वजह है कि प्रत्येक कलाकृति सामान्य नहीं विशिष्ट वस्तु बन जाती है और उसका मूल्यांकन भी वैसा ही होता है, होने लगता है। इस विशिष्ट या मौलिक कलावस्तु के ढाँचे-साँचे-में या ऊपर ढली बनी चीज़े नकल या प्रतिकृति कहलाती हैं और उनका मूल्यांकन भी हर तरह तदनुरूप होता है। इनमें मूल कलाकृति जैसा कौशल भी नहीं होता है। व्यक्तता या विशेष व्यक्त्याकृति ही कला की अपनी विशेषता है। प्रत्येक कला का कौशल ही नहीं संप्रेषण भी विशिष्ट हो जाते हैं। वे स्वार्थ और पदार्थ दोनों एक साथ संप्रेषित करते हैं। कलास्वाद तो प्रत्येक व्यक्ति का पृथक् हो सकता है। किन्तु अपना अनुभव-वैविध्य दूसरों तक संप्रेषित कर सकना ही कला एवं कलाकृति की अन्यतम विशेषता है। यदि ऐसा न होता तो कलास्वाद ही नहीं उसके बारे में बातचीत भी असंमत हो उठती।

कला-संप्रेषण भी द्विविध होता हैः एक तो स्वतः, दूसरा, अन्यान्य कला वस्तुओं द्वारा उन्हीं को माध्यम बना कर, जैसा कि नाटकों में होता है! कलाओं के शारीरक (आंगिक) एवं ग्राह्यता (आशय) तत्त्वों की विचारणा से यह तथ्य जाना-समझा जा सकता है। कला का शारीरक उसे 'वस्तुता' देता है। किन्तु कला का स्वरूप - निर्धारण एवं मूल्यांकन तथा मानदण्ड-निश्चिति या निर्णय ग्राह्यता (आशय) तत्त्व से ही होते हैं। कला के नये अर्थ उद्धारित होते हैं। नये अर्थों की उद्भावनाएँ केवल मानवीय कौशल से ही नहीं अपि तु मानसी या भाव-विश्व से भी होती हैं।

बारलिंगे जी वामन-कृत 'काव्यालंकार सूत्र' के चार सूत्रों का हवाला देकर और काव्यकृतियों के विदर्शनों से अपनी बात भलीभाँति प्रमाणित करते हैं। वामन काव्य की आत्मा "रीति" और रीति का लक्षण विशिष्ट पदलक्षणा बताकर जहाँ काव्यकला का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आंगिक (शारीरकतत्त्व) समझाते हैं वहाँ काव्य को अलंकार द्वारा ग्राह्य और अलंकार को काव्य का सौन्दर्य मानकर उसकी संप्रेष्यता भी व्यक्त करते हैं । उपमोत्प्रेक्षादि अलंकारों को तो वे "गौण" मानते हैं, "प्रधान उद्देश्य" नहीं । ... खेद है कि वामन की बातें प्रायः ठीक से समझी नहीं गईं ।

बारलिंगे जी कहते हैं कि सौन्दर्य नाम की कोई ऐसी वस्तु नही है, जिसका बाहर से आरोपण कलाकृति के आंगिकों पर किया जा सके । वह तो 'कला वस्तु' में- यदि वह इस नाम के योग्य है- स्वयं ही निखर आती है । " इसी सौन्दर्य के प्रति प्रेक्षक, आस्वादक, सभ्य, सहृदय आकृष्ट हो जाते हैं" ऐसे सौन्दर्य का समुस्थापन-संप्रेषण ही कलाकृतिकार और अन्य सभी वस्तु-व्यक्ति (जो उससे थोड़े भी संबद्ध हो) का परम कर्तव्य है । इसीलिए कहा जाता है कि, कलाकृति का वस्तु-पक्ष लौकिक और कलापक्ष अलौकिक मान सकते हैं । इनका सामरस्य - घोलमेल ही कला की सामर्थ्य बनता है । कलाकृतिकार की सृजनी या प्रतिभा भी एक तरह की "जुगाली" है, कल्पनाशक्ति है । कलासृष्टि ज्ञान-विज्ञान की सृष्टि नहीं, यद्यपि वे इसके भूल में रह सकते हैं, जिसे हम कला-संचेतना के विविध स्तर भी कह सकते हैं ।

भवभूति ने अपने 'उत्तर-रामचरित' नाटक में कहा हैः "एको रसः करुण एव निमित्त-भेदात्, भिन्नः पृथक्स्पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान् । आवर्त्तबुद्बुदतरंगमयान्विकारान्, अम्भो यथा सालिलमेव तु तत्समग्रम् ।"- बारलिंगे जी भी कुछ ऐसी ही बात कहते हैं, जब वे यह ज़ोर देकर कहते हैं कि मानवी-मानसी कलासृष्टि के भूल में दुःखकी एकल एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है । दुःख से उनका मतलब "दर्द या दैन्य" से नहीं, 'करुणा' से है । मनुष्य के भाव-विश्व में समाधानों का विनाश, अपेक्षित वस्तुओं का नितांत अभाव और सामान्यतः विविध दुःखदैन्य का प्राचुर्य- ऐसे अनेक कारणों से जगती के प्रति मानवीय प्रतिक्रिया जो करुणा का रूप धरती वह अधिकांशतः उसकी परिणति कलासृष्टि में भी होती है । अपनी बात की पुष्टि में डा. साहब वाल्मीकि और क्रौंचवध की कथा याद करते हैं, बुद्ध के 'आर्य-सत्य-चतुष्टय' के भूल में गौतम के दुःख-साक्षात्कार की कथा याद दिलाते हैं । वैसे भी संत्रास का सातत्य स्वीकारनेवालों की तादाद दुनियाँ में कम नहीं है । चाहे आप इसे बदकिस्मती कहें, दुर्दैव या कमफल मानें ।

उनकी यह बात भी बड़े काम की है कि, अनुभवों का प्रस्तुती-करण (सृजन एवं उपस्थापन) भी स्वतः एक नया अनुभव है, चाहे वह कितना भी विकृत क्यों न हो गया हो ।... ऐसे मूर्त्तीकरण में दिक् (स्थान, देश) और काल (समय) के अनुभव भी बने रहते हैं, अथवा पूर्णतया नष्ट नहीं होते, नहीं किए जा सकते । कलासृष्टि में प्रकट या प्रच्छन्न (निहित) भी गतिशीलता के लिए यही आवश्यक है ।

कला के इतिहास से उनका तात्पर्य कला-विषय (कला-क्रिया-क्रम) तथा उसकी संकल्पना-संरचनाओं की रीति से होता है । इतिहास-संचेतना यद्यपि ऐतिहासिक वस्तु

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

या व्यक्ति अथवा दोनों के सह-अस्तित्व पर निर्भर करती है परन्तु कला संकल्पना का केन्द्र-बिन्दु (मुख्यतत्त्व) व्यक्ति की संवेदना ही है, कारण कला एक प्रकार का 'व्यक्ति-तंत्र' है। व्यक्ति मानव और उसके स्वभाव-चरित्र दोनों परही दार्शनिक एवं नृवंशतत्त्व के प्रभाव स्पष्ट हो चुके हैं, जिनमें अस्तित्व, वस्तुजगत् से अन्योन्याश्रयी द्वैत संबंध एवं जीवन में शामिल अन्य व्यक्तियोंसे पारस्पारिक क्रिया-प्रतिक्रिया-संबंध खास तौर से परिगणनीय हैं। इतिहास मानव एवं वस्तु-जगत् के द्वारे क्रियाकलाप को देश-काल के आयामों में उकेरता एवं जाँचता परखता है। कला के क्रियाकलाप का केन्द्र बिन्दु भी मानव ही होता है।

यहाँ हमें एक कहानी याद आती है। एक जाने-माने संस्कृत-गद्य-पद्य-कवि ने अपने अधूरे छूटे वाङ्मय कार्य की पूर्ती अपने दो बेटों में से किसी एक को चुनकर सौंपने का निश्चय किया। वे स्वयं मृत्युशैय्या पर थे। समय नहीं था ज़्यादा उनके पास। खिडकी से सामने देखने पर उन्हें एक सूखा पेड़ दिखाई दिया और तुरंत पुत्रों की कवित्व-परीक्षा का उपाय सूझ गया। दोनों बेटों से कहा - इस सामनेवाले पेड़ पर लिखी जानेवाली कविता कैसे शुरू करोगे, बोलो तो?

पहले ने उत्तर दिया : " शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे।"

दूसरे ने कहा : "नीरस-तरुरिह विलसति पुरतः।"

कवि ने काफी-कुछ सोचा और दूसरे बेटे को ही कार्यपूर्ती का भार सौंपा। शायद उनकी सोच इस तरह हुई: पहले ने अपनी सपाट-बयानी ज़ाहीर की है। उसे व्याकरण और छन्दोगति का ज्ञान है। किन्तु रमणीय अर्थ, रीति, ध्वनि रस एवं सौन्दर्य की ओर कवि की पैनी दृष्टि नहीं मिली, शायद। लेकिन दूसरे ने तो यह सब एक ही वाक्य में कह डाला।....

सचमुच। सूखे पेड़ की भी तो अपनी एक खूबसूरती है। वह भी अपने अस्तित्व और अस्मिता की उपयोगिता से वाकिफ़ है। रस नहीं भी रहा पूरा तो क्या, उसे "विलास" आता है। "सौन्दर्यानन्द का आस्वाद" आता है। वस्तुतः ये सारी बातें कवि के मन में ही थी; और, अपने दूसरे बेटे में उन्हें इनका ही आभास मिला। वह कृति कलाकार था जो नैसर्गिक 'असुन्दर' को भी सुन्दर बना सका।

बारलिंगेजी के सूक्ष्म एवं पुंखानुपुंख - चिंतन का परिचय हमें उन लेखों से मिलता है जिनमें वे कठिन-जटिल धारणाओं पर तर्क एवं तत्त्वशास्त्रों की दृष्टि सम्यक् विचार पेश करते हैं। कहना नहीं होगा कि उनके लेखन में पूर्वाग्रहों और दुराग्रहों का प्रायः सर्वथा अभाव रहता है, सदा ही रहा है। उदाहरणार्थ, हम यहाँ उनके कुछ "वाक्य-सूत्र" दे रहे हैं, कारण उनसे संबंधित पूरी विचारधारा में अवगाहनार्थ तो उनकी कृतियों का समग्र अध्ययन एवं अनुशीलन जरूरी हैं। जैसे, " आकारीकरण की प्रक्रिया में न तो साधारणीकरण किया जाता है, न सामान्यीकरण।" इसमें " सामान्य धर्मों को उत्तरोत्तर वर्जित किया जाता है फिर भी एकमात्रता या विशिष्टता बनी रहती है। " अभ्रक या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शिलिका (स्लेट) के उदाहरण दे कर वे कहते हैं कि शिलिका या अभ्रक एक के ऊपर लगे पत्रों से बने होते हैं, इनमें से कुछ हटाये जा सकते हैं किंतु मूल रचना ज्यों की त्यों बनी रहती है । " इसी तरह घटना का एक विशिष्ट आकार होता है और उसके द्रव्य तथा धर्म भी होते हैं । धर्म, द्रव्य तथा आकार एक ही नहीं होते ।"

" कला और सौन्दर्य " कृति में बारलिंगेजी ने संकल्पना, कला, काव्य, नाटक, नृत्य आदि के आकारीकरण (उनका नया शब्द है इस के लिए - पद्मबंध) की प्रक्रिया की यथायथ विवेचना की है, जो सचमुच बेजोड़ है । अत्यन्त विचारणीय ।

इसी कृति में "सौन्दर्य मीमांसा" शीर्षक लेख या अध्याय भी भूरि-भूरि पठनीय है। उसमें कला एवं सौन्दर्य के स्वरूप की सांगोपांग चर्चा है । वे यह भी स्पष्ट कहते हैं कि "सौ.मी. कला का शास्त्र है, उसमें कलावस्तु की रचना और कला को कला बनानेवाले निकषों का विचार करना पड़ता है ।" और यह भी कि " कलाकार जब कलावस्तु का निर्माण (रचना) करता है तब उसके सामने कौन-से प्रेरणादायक घटक होते हैं ।" वे तो यही मानते हैं कि, कला की समस्या प्रायः भाषा की समस्या के समान होती है । "प्रायः" शब्द के इस्तेमाल से यह स्वतः व्यक्त हो जाता है कि , कलाकार की समस्या सिर्फ संप्रेषण ही नहीं, सौन्दर्यानुभूति भी है । कलाकार, शिल्पी, साहित्यकार, संगीत विशारद सभी की एक समस्या सर्वसामान्य है अनुभूति का ठीक-ठीक संप्रेषण ।

इसीलिए बारलिंगेजी सोचते हैं कि कला और सौन्दर्य-मीमांसा द्विविध संप्रेषण से संबंधित रहते हैं । सौन्दर्य या सुन्दर-वस्तु-निर्णय के लिए परिस्थिति वास्तविक एवं अनुभूतिजन्य (आनुभाविक) हो, यह जरूरी है । उनकी राय में " सुन्दर यह शब्द मात्र जातिवाचक नहीं वह सौन्दर्य से संबंधित समान और अन्य वैसी ही संकल्पनाओं को भी व्यक्त करता है । सौन्दर्यवाचक विधान की अनिवार्यता संभावना से निर्धारित होती है; और सौन्दर्य - सिद्धांन्त किसी भी तरह की नैमित्तिकता या प्रासंगिता से मुक्त होता है ।

' क्या सौन्दर्य - मीमांसा शास्त्र है ' - इसी शीर्षक से समूचे एक अध्याय में डा. साहब ने इस समस्या का समाधान प्रस्तुत किया है । जैसा कि अब सभी जानते हैं, शास्त्र का अर्थ अब कुछ खास ग्रंथों और ज्ञेय विषयों पर आधारित नहीं रहा । और न केवल यही कि, किसी विषय का सोपपत्तिक, सांगोपांग और प्रणालीबद्ध विवेचन एवं अभ्यास को ही शास्त्र कहते हैं । यह शब्द अंग्रेजी शब्द, शास्त्र के अर्थ में Science 'सायन्स' एवं 'Logos' की धारणाओं से भी परिभाषित नहीं होता, यद्यपि इनका पर्यायवाची है । या हो चला है ।

यह ठीक है कि, प्रत्येक शास्त्र के कुछ प्रमेय (मूलाधार गृहीतक) अवश्य होते हैं लेकिन वे निरपवाद सत्य हैं, ऐसा अब नहीं माना जाता । बारलिंगेजी यह स्थापना करते हैं कि आकारवाची विधान (formulation) आशयवाची विधानों (conceptuals)की तरह सत्य या असत्य नहीं हो सकते । जिस विशिष्ट आकार, ढाँचे या मॉडेल अथवा पॅटर्न (रूपविद्या) को हम वस्तुस्थिति बतलाते हैं उसे यथार्थ (सत्य) या अयथार्थ (असत्य)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कहना ठीक नहीं । मतलब, "दो और दो चार कहना यह सत्य तथा दो और दो पाँच कहना असत्य है ।" लेकिन ठीक वैसा कथन नहीं जैसा यह कि, 'यह घोड़ा घोड़ा है, गधा नहीं ।'

मतलब यह कि, शास्त्ररचना करते हुए हमें मूलाधार गृहीतकों (प्रमेयों) का सत्यासत्य-निर्णय नहीं, यही देखना होता है कि ये (मू.गृ.या प्र.) परस्पर असंवादी या विसंवादी तो नहीं और यदि मू.गृ. या प्र. एक ही हो तो स्व-विरोधी या स्वतः असंगत तो नहीं । और एक बात - किसी भी प्राकृतिक नियम की तरह वैयक्तिक अथवा सामाजिक जीवन के बीच बने या बताए गए नियम - कानून एक जैसे नहीं होते, या हो सकते - यह सोच भी मानवकृत शास्त्र-रचना में जरूरी है । साथ ही यह भी कि, मानवीय शास्त्र व्यक्ति एवं समाज के वरण - स्वातंत्र्य की उपेक्षा नहीं करते, या कर पाते । वे सदा ही "नैमित्तिक" रहते हैं । और इसलिए सतत परिवर्त्य भी । सही शास्त्रीय परंपरा वही होती है जो निरंतर विकसन-शील हो, श्रेयस्कर हो ।

सौन्दर्यशास्त्र की विचारणा में इन सब बातों का समावेश अपरिहार्य रहता है । "सौन्दर्य का आस्वादन प्रधान रूपसे प्रत्यक्ष होता है और गौणरूप से स्मृतिरूप रहता है। " सौन्दर्य कदापि अनुमेय नहीं, केवल आस्वांद्य, उद्देश्य, प्रमेय और विधेय ही बन सकता है ।कारण, अमुक वस्तु सुंदर है, या नहीं, यह राय बनाते वक्त हम वस्तु के आकारिक एवं अनाकारिक (मूर्त्त एवं अमूर्त्त) संबंध भी जानते हैं । लेकिन यह ज्ञान अनुमान, स्मृति या शाब्द प्रमाणों से नहीं होता । सौन्दर्य-निर्णय से एकवाची विधान भी पूर्णरूप से सामान्य विधान जैसा नहीं होता । तात्पर्य यह कि अमुक वस्तुएँ 'विशेष प्रकार' की होने से ही 'सुन्दर' नहीं हो जाती और न ही उनका कोई सामान्य वर्ग या श्रेणी निर्णीत रह सकती है । सौन्दर्य अधिकांशतः अनुभवनीय होता है । अतः उसके प्रकृत मूल्य-निर्णयात्मक विधान एवं निगमनात्मक विधान तो किसी भी तरह नहीं किये जा सकते । अतएव स्पष्ट है कि सौन्दर्य का कोई शास्त्र, डॉ. साहब की राय सें, कतई नहीं बन सकता सौन्दर्य के आकारिक घटक भले ही स्वीकार्य हों लेकिन सैंदर्य के निकष नहीं बन सकते । उनकी राय से समग्र मानव-सृष्टि ही 'कला' कही जा सकती है । दिव्य सौन्दर्य एवं दिव्य या प्राकृतिक निर्मिति अथवा सृष्टि अलग हैं उनमें 'कला' की संकल्पना भले ही करें परन्तु कलानुभव जैसी समूची संवेदनात्मक होती नहीं - यही विवादास्पद बात है । प्रकृति और कृती (कलाकार, शिल्पी) के माध्यम और तदनुसार रचना-प्रकार-भेद अवश्य ही अवधेय हो सकते हैं । सामान्यतः मनुष्य में दिव्य सृष्टि एवं तत्सौन्दर्य की ज्ञातृता ही अपेक्ष्य है । किन्तु कला या शिल्प में लालित्य एवं रसास्वाद का ज्ञातृत्व और निर्मातृत्व भी मानवीय होते हैं । प्राकृतिक सृजन या निर्माण अलग विषय है ।

'मार्क्सवाद और सौन्दर्य मीमांसा' शीर्षक अध्याय में भी डॉ. बारलिंगे ने अपने वैदुष्य की विदग्धता भलीभाँति व्यक्त की है । यह भी अत्यन्त अवगम्य है ।...

डा. साहब यह कदापि नहीं स्वीकारते कि मार्क्सवादी दृष्टिकोन से सौन्दर्य के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मौलिक सिद्धान्तों में कुछ अन्तर आ जाता है। सौन्दर्य-विवेचना पूँजीवादी या सामन्तवादी एवं मार्क्सवादी या सर्वहाराई हो सकती हैं, वे यह नहीं मानते। उनकी राय में ऐसा विभाजन कला, शिल्प,साहित्य एवं संगीत आदि में बेमानी है। अनावश्यक तो है ही।

सुन्दर सौंदर्य से ज्यादा नजदीकी से अनुभवनीय हो पाता है। "मार्क्स तथा मार्क्सवादी कहते हैं कि मनुष्य हरेक भोग्य वस्तु को क्रय-विक्रय की (commodity)" चीज़ समझने लगता है, यह तो पूँजीवादी मनोवृत्ति से ही संभव है। मार्क्सवादी सुन्दर को अभिव्यक्तिमयी कलासृष्टि नहीं स्वीकारते, मूल्यमयी वस्तु ही मानते हैं। किसी वस्तु को सुन्दर कहना एक प्रकार से उसका 'मूल्यीकरण' है जो वस्तु का वस्तु-निर्माता से 'अलगाव' स्थापित कर डालता है। इस तरह सौन्दर्य एक आरोपित गुण या भाव है, अथवा यह वस्तु की अपूर्णता पूर्णता के आभास या भ्रम का उपक्रम मात्र है, यथार्थ (तथ्य) नहीं। मूल्यीकरण या मूल्यारोपण मानवीय इतिहास, परम्परा, समाज एवं संस्कृति की एक प्रक्रिया है। इसकी स्वीकृति मात्र भाषिक होती है। अतः यह आंतर-वैयक्तिक या सामाजिक ही मानी जाय; और यह भी कि यह वस्तुनिष्ठ है, वैषयिक है। सभी तथ्य सदा-सर्वत्र-सर्वथा ऐसे ही होते हैं। सत्यासत्य का निर्णय अलग बात है - बहुतांशतः विषयिसापेक्षता को उसमें नहीं नकारा जा सकता। नीति, समाज, सौंदर्य भी व्यक्ति सापेक्ष है और व्यक्ति भी संज्ञानी होना चाहिए। उसकी प्रतिक्रिया सचेतन हो, तभी यह संभव है। अर्थात् रमणीयता की संवेदना, सौन्दर्यानुभूतिमें केवल वैयक्तिक नहीं आंतर-वैयक्तिक (सामाजिक) प्रतीति के रूपमें आवश्यक है। इसीलिए प्राकृतिक सौन्दर्य एवं कलाकृति-सौन्दर्य के मानदण्ड भी भिन्न होते हैं।

यही मार्क्सवादी स्थापना भी है कि, कला नितांत वैयक्तिक या मात्र निजी संपत्ति नहीं है, न वह दिवास्वप्न या उद्भट काल्पनिक अनुभव (फंतासी) है। चाहे वह कितनी ही 'सुन्दर' लगती हो। (काडवेल वेल की पुस्तक, स्टडीज़ इन डाइंग कल्चर, पृ. ३८) काडवेल कला की व्यवच्छेदकता सामाजिकता में है। कला को कारीगरी में बदलने पर वह प्रचार-माध्यम भी हो जाती है। मार्क्सवादी 'कला के लिए' अभिव्यंजनावादी सूत्र गलत मानते हैं। डा. साहब यहाँ ठीक ही कहते हैं कि, अधिक मौलिक समस्या तो यही है न कि "सामाजिक संदर्भ के विना कला हो सकती है या नहीं।"..... यह जिज्ञासा सार्थक अभिव्यंजना एवं सशक्त संप्रेषणा में भी उतनी ही सार्थक है जितनी कि मार्क्सवादी विवेचना में। डा. साहब यह भी स्वीकारते हैं कि, कला के लिए सामाजिकता का आशय होना चाहिए, यह मार्क्सवादी मीमांसाकों की कला-मीमांसा को बड़ी भारी देन है।" (वही, पृ. १६५)।

असल में, संप्रेषणा मात्र एक आंतर-वैयक्तिक प्रक्रिया है समाज-सापेक्ष, संज्ञानाधारित। मानव-जीवन में सजीवता (पशु-पक्षी आदि) का भी सामाजिक संदर्भ है। किन्तु यांत्रिकता का नहीं। कम्पूटर को इसमें शामिल करना तो वास्तविक यथार्थ से हटकर "कृत्रिम या काल्पनिक यथार्थ" की बात है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कला की सामाजिकता के कारण ही कलाकृतित्व संभाव्य हो पाता है, जिसे हम कलाकार और समाज के बीच का रिश्ता मानते हैं। कलाकृति का "पद्मबंध" (स्वरूप) अवश्य ही माध्यम-निर्भर होता है लेकिन उसकी लौकिकता प्राकृतिक निर्मितियों जैसी नहीं होती। हाँ, वह पूँजीप्रधान समाज में क्रय-विक्रय की चीज़ या "पण्य वस्तु" अवश्य बनी रहती है। स्पष्ट है कि कला का आशय समाज-रचना पर निर्भर करता है और कलाकारिता के लिए मानवीय स्वातंत्र्य पहली शर्त है।

मार्क्सवादियों और अन्य मतवादियों में व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की अवधारणा ही विवादास्पद हो चली है। यह ठीक है कि स्वातंत्र्य समाज की देन है। अनिर्बंध वैयक्तिक स्वातंत्र्य निरर्थक कल्पना हो सकती है, तथ्य नहीं। स्वातंत्र्य एवं उसका उपयोग व्यक्ति और समाज के अकाट्य संबंध का अन्यतम पहलू है। ऐसे ही कला और कल्पना-शक्ति में भी चोली-दामन का संबंध है। अमूर्त कल्पनाओं का मूर्तीकरण ही उनको सार्वजनीन बना देता है। सर्वथा निरंकुश स्वातंत्र्य तो सिर्फ़ एक खयाली पुलाव है लेकिन सामाजिक सीमाओं में उसका विकास हमें आत्मनियंत्रण का अभ्यास तो करा ही देता है। हमारी सारी शक्तियों का भी ठीक-ठीक उपयोग हो पाता है। इसी में हम अपने "वरण एवं निर्णय" के स्वातंत्र्य का अनुभव करते हैं। अतः मार्क्सवादियों की यह धारणा, कि असली वैयक्तिक स्वातंत्र्य तो सामाजिक विकास में ही पनपता हैं, एकदम ग़लत नहीं है। (काडवेल, स्ट. इ. ज. क., पृ. ११)।

प्राक्पूँजीवादी युग में कला और कलाकारिता परस्पर अविभाज्यसे लगते थे। पूँजीवादी व्यवस्था में तो सभी कुछ "पण्य" हो चला है।

कला और कलाकार अलगाव (निजीपन) सार्वजनीनता की ओर एक यात्रा अवश्य है लेकिन तब मानवीय रिश्तों में भी दरारें पड़ने लगती हैं। फलतः समाज-निरपेक्ष निजी स्वातंत्र्य और निजी संपत्ति की जड़ें भी गहरे पैंठ जाती हैं। बड़ी बस्तियों और बड़े शहरों में इसका ऐसा भयावह रूप पनपता है कि पड़ोसी भी परस्पर परिचित नहीं होते। कलाकार भी अपनी कलाकृतियों को "तैयार माल" या उपभोग्य एवं "पण्य चीजों" की तरह देखने लगता है। समूची कला ही नहीं संस्कृति भी व्यापारिक वस्तु हो जाती है, अथवा वह मात्र प्रचारोपयोगी सामग्री बन उठती है। कला की निजी " "अर्घ्यता" (Value) नष्ट होते ही वह ज्ञान-प्रक्रिया की कसौटी पर कसी जाती है और तदनुसारही उसका बाजारू मूल्य लगाया जाता है। कला का आशय तब मात्र उसका विषय होता है।

कलाकृति या कलावस्तु के सौन्दर्य से तब हम मानव केन्द्रिक सामाजिक भोग्य का अभिप्राय जाहिर करते हैं। कलाकार के संचित अनुभव मूर्त्त होकर कलावस्तु बनते हैं लेकिन वे जैसे के तैसे ही अपने निर्वाचित रूपाकार नहीं ले पाते हैं। वे एक हद तक ही कला-रसिकों या सामाजिक आस्वादकों के जीवन की न्यूनताएँ - रिक्तताएँ भरते हैं। कारण सामाजिक संघटन के या संरचनाके परिवर्तनों के साथ ही सामाजिक आशय भी बदल जाते हैं, यह युक्ति डा. साहब को नितांत ठीक नहीं लगती। उनका यह कहना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सही है कि आदमी कैसी भी तरक्की कर ले, उसे पूर्णता कभी हासिल नहीं हो पाती। पूर्णता की उपलब्धि की खातिर ही तो वह अपनी गतिशीलता तथा सर्वांगीण विकास के सारे प्रयत्न कायम रखता है। ये सब सही होते हैं या गलत - यह बात अलग है।

डा. बारलिंगे के मत से पूँजीवादी समाज में सृष्ट सारी कला पहले दर्जे की नहीं होती। यह भी सही नहीं कि लोग हमेशा आदर्शोन्मुख अभिलाषा को ही कला द्वारा व्यक्त करते हैं। तथा उनकी अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति के प्रयत्न कला में हीनता ही ला सकते हैं। यह भी वे सच मानते हैं कि मात्र कला को ही जीवन का प्रतिरूप समझना ठीक नहीं है। साथ ही फिशर की कला मीमांसा को भी वे अग्राह्य नहीं समझते, और न यही कि सामाजिकता बहुविध ही हो सकती है।

डा. साहब ने ' सौन्दर्यात्मक एवं नैतिक मूल्यों का स्वरूप ' शीर्षक अध्याय में यह दिखाने का भरसक प्रयत्न किया है कि 'मूल्य' वस्तु से भिन्न, और सौन्दर्य की संकल्पना नैतिकता की संकल्पनाओं से भिन्न तात्पर्य रखती है। 'मूल्यों' का अस्तित्त्व होना सब के लिए उतना अनिवार्य नहीं, जितना कि वस्तुओं के लिए है। यही सच नैतिकता की धारणाओं के, बारे में बहुत-कुछ विचारणीय है। इतना ध्यान रहे कि, सौन्दर्य-वाचक विधान एक या विशेष को बताते हैं परन्तु नैतिक विधान सामान्यवाची भी हो सकते हैं। दोनों ही के उद्देश्य अपना अस्तित्त्व रखते हैं या नहीं, यह बहस अनावश्यक है।...

बारलिंगेजी ने ' कांट की दृष्टि : सुन्दर का स्वरूप ' भी लिखा है। इसमें वे मूल्यांकन की समस्या को उठाते हैं; उसमें अभिरूचि (सुन्दर के मूल्य-निर्धारण की मानसिक क्षमता) का प्रश्न भी सामने आता है। उनका उत्तर तो यही है कि, सौन्दर्य की संकल्पना वैसी ही नहीं होती जैसी कि वस्तु की। वह तो एक प्रकार से समानधर्मा अन्य संकल्पनाओं को भी प्रायः उजागर करती है (जिनमें 'श्रेयस्' एवं प्रेयस्' शामिल रह सकते हैं)। उसे तो अपनी रीति का आधार चाहिए, आशय का नहीं। कांट के अनुसार भी सौन्दर्य मीमांसा के कोई विशेष नियम निर्दिष्ट नहीं हो सकते।

"सुन्दर की संकल्पना" पर डा. साहब ने कुछ मौलिक उपस्थापनाएँ पेश की हैं। जैसे, (१) सुन्दर क्या है क्या नहीं, यह विवेचना कठिन अवश्य है, एकदम असम्भव नहीं। (२) 'सुन्दर' को 'सुखद' एवं 'आनन्दप्रद' के समकक्ष रखना ठीक नहीं। (३) सुन्दर को केवल साम्य या संवाद, विरोध या वैषम्य एवं संतुलन या सामंजस्य के आधार पर भी पूर्णतः परिभाषित नहीं किया जा सकता, यद्यपि इन बातों से 'सुन्दर' की समझ में मदद मिल सकती है। (४) सौन्दर्यवाचक विधानों का एक ही अर्थ या अभिप्राय नहीं होता (जैसे - फूल, फल, गायन, एवं आवाज को 'सुन्दर' कहते वक्त होता है), हम इसका जगह-जगह विभिन्न आशय से प्रयोग करते हैं ('ईमान' शब्द की तरह या 'अच्छा' शब्द की तरह) (५) सुन्दर सावयव मिश्र पदार्थ का समानार्थक नहीं है। (६) सुन्दर की बुनियाद व्यक्तिगत अनुभव पर रखकर भी उसे अहंकेन्द्रिक नहीं मानना चाहिए। वस्तुतः वह अहंनिरपेक्ष ही है। (७) सौन्दर्यवाचक विधानों में उद्देश्यों का विश्लेषण, उनका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संग्रह और उनके अस्तित्व की यथायथ समझ तथा वर्ग-क्रम जानना जरूरी है। विधान शब्द का तात्पर्य यहाँ " मानस कल्पना की ऐसी शाब्दिक अभिव्यक्ति ही अभिप्रेत है जिसमें उद्देश्य और विधेय के पद भी अलग होते हैं।

इसी क्रम में बारलिंगेजी ने बड़ी खूबी से यह समझाने का अथक प्रयत्न किया है कि, ज्ञान एवं निर्णय की कई प्रक्रियाएँ हमारे सौन्दर्यबोध को प्रभावित करती हैं। अवश्य ही इसमें उनकी तार्किक प्रणाली विषयपर हावी है, और भाषा भी दुरूह हो उठी है।

अतः हम यहाँ इससे संबंधित कुछ निष्कर्ष ही दे रहे हैं, विवेचना नहीं। वे कहते हैं कि, सौन्दर्य की संकल्पना में विधि-नियम की संकल्पनाओं का समावेश उचित नहीं। सौन्दर्य की समझबूझ में और उसकी अभिव्यक्ति में, जो अभिरुचियाँ एवं मनोवृत्तियाँ काम करती हैं वे प्राथमिक नहीं, इतिहास और संस्कृति की देन होती हैं। सौन्दर्य-मीमांसा के कोई विशेष विधि-नियम पूर्णतया एवं निर्विवाद, निर्दिष्ट एवं सार्वभौम एवं सार्वकालिक नहीं बनाए जा सकते। कांट का भी यही मत है।

सुन्दर वस्तु के निर्धारण में ज्ञाता-स्रष्टा-भोक्ता व्यक्ति की अपनी आवश्यकता और उस वस्तु का अनोखापन सहायक होते हैं। सुन्दर की निर्मिति, प्रस्तुति, अस्तित्व भी जरूरी हैं। केवल काल्पनिकता से काम नहीं चल सकता। सुन्दर मूर्तीकरण आवश्यक हैं, अमूर्त संकल्पनाओं में सौन्दर्यानुभव नहीं होता। केवल हमारे ज्ञान और निर्णय सुन्दर की वास्तविकता को नहीं बदलते। अधिकांशतः सारे सौन्दर्यविबोध अपनी व्यक्ति-निर्भरता के कारण अनुमानित या साधारणीकृत नहीं हो पाते। अपनी अभिरुचियाँ (पसन्द) भी सब पर तो लादी नहीं जा सकती। सौन्दर्य-तत्त्वों के विधि-नियम के प्रशिक्षण में ये कठिनाइयाँ सर्वत्रसर्वथा सदा उभरती रहती हैं। ये "सर्व"-सामान्यता और आवश्यकता के आधारों पर बनाए-सिखाए जाते हैं, उनमें फेर-बदल, घटत-बढत प्रायः होती हैं, अभिरुचि एवं आवश्यकता के अनुसार स्वीकृत-अस्वीकृत, प्रयुक्त-अप्रयुक्त की स्थितियाँ आ जाती हैं। यहाँ "सर्व" की कल्पना अलग-अलग और एक-अनेक के समूहों से संबंधित है। समान-अंश सदा नैमित्तिक नहीं होते, पूर्वनिर्दिष्ट हो सकते हैं। वस्तुओं की सामग्रिकता से सामान्यता का अनुमान लगाकर एक में सब या अनेक आरोपित हो जाता है। अतः सार्विकता के विधान में उद्देश्य का एकवाचक पद होता है, और उसका बर्ताव सामान्यवाचक पद की तरह होता हैं। एक और ध्यान रखने की बात यह है कि आवश्यकता भी एकता से जुडी होती है, केवल सामान्यता से ही नहीं। माने, 'आवश्यक', 'आवश्यकता', 'आवश्यक रूप' ऐसे शब्दों से समग्र अंशों की अविभाज्य व्यवस्था का तात्पर्य व्यक्त होता है। अंगागिसंबन्ध की बाध्यता-व्यवस्था सदा स्वीकार्य रहती है इसीसे वह आवश्यक, आवश्यकता को परिभाषित कर पाती हैं।

सौन्दर्य-सृजन, (सर्जना-सृष्टि) के आंगिक अथवा नियम, विधि-निषेध, स्वरूप-निर्धारण, लक्षण, आदेश-निदेश सौन्दर्य-मीमांसा में अनेक कलाकृतियों एवं कलाकारों तथा समालोचकों की विवेचना के आधारपर शामिल किए जा सकते हैं। प्रत्येक कला

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के आविष्कार, उद्‌व, सतत अन्वेषण विश्लेषण-संश्लेषण और कला के हेतु की यथायथ चर्चा इन पुस्तकों में बहुत ज्यादा नहीं है । अतः हम भी इस विषय को और आगे नहीं बढ़ा रहे ।

डा. बारलिंगे की दोनों हिन्दी पुस्तकों में रस-चर्चा काफी विस्तार सें उपलब्ध है । इस विषयपर पिछले १०-१५ वर्ष में बहुत कुछ नया सोचा-समझा और पढ़ा- लिखा गया है । इस क्रम का जारी रहना स्वाभाविक है । हमारी धारणा है कि, डा. साहब ने जिन संबंधित विषयों को छुआ है वे अभीतक गतार्थ नहीं हुए, न ही पुराने पड़े । इसलिए उनका यहाँ एक संक्षिप्त आकलन प्रस्तुत है । संबंधित अध्यायों के शीर्षकों से भी इसमें काफी-कुछ मदद मिलती है । ये हैं : भरतमुनि का रस-सिद्धान्त, रस से भरत का क्या अभिप्राय था; रस-सिद्धि; नाट्य का रस और काव्य का अर्थ (ध्वनि) ; भरतमुनि और काव्यशास्त्र; काव्य के घटक; रस का स्वरूप, मूल रस-सिद्धान्त और कतिपय आलोचक; रस, सौन्दर्य और आनन्द; रस-संख्या; काव्य-दर्शन के क्षेत्र में वामन के योगदान का स्वरूप । काव्य-बिम्ब; भरतमुनि और काव्यशास्त्र ।

न जाने कब से मानव-समाज में एक धारणा चली आ रही है : यदि कोई कला, शिल्प, साहित्य, संगीत आदि से कोई सरोकार नहीं रखता तो उसमें और सींग पूँछ-रहित पशु-पक्षी या अन्य जीवों में क्या फ़र्क है ? शायद कुछ विशेष नहीं । 'ऐसा क्यों' का उत्तर भी लोक अपने अपने तरीके से देते हैं । कोई कहते हैं ऐसा होने से व्यक्ति का घनिष्ट मनोरम सम्पर्क होता रहता है, 'सत् , चित् आनन्द' से । कोई कहता है यही तो 'सत्य,शिव, सुन्दर' की साधना है । कुछ यह मानते हैं कि, रस एवं आनन्द की, रमणीय, एवं श्रेय-प्रेय की केवल सिद्धि इसी तरह मिलती है । कोई तो यह भी कहते हैं कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, यश, आदि सभी इनके संपर्क से मिल पाते हैं । बारलिंगेजी की राय से, ये सभी उत्तर एकांगी, अधूरे हैं । और ये बेहतर भी नहीं हैं । वे कहते हैं कि "वास्तव में कला का कोई या कुछेक हेतु (उद्देश्य, लक्ष्य) हो ही नहीं सकते । हेतु की कल्पना तो व्यक्ति से संबद्ध है, वस्तु से नहीं । हीरे का हेतु क्या है? - यह पूछना जितना हास्यास्पद है उतना ही कला का हेतु क्या है, यह पूछना भी है ।" (सौ.और काव्यसिद्धान्त, पृ.१५५) ।

भरत मुनि के रससिद्धान्त को वे 'कला-स्वरूप-शास्त्र का सिद्धान्त मानते हैं । ' कला भाषा का भी एक प्रकार है ।' - कला की भाषा भावदर्शक (Emotive) है, वह सर्वप्रथम कलाकार के मन में उदित होती है किन्तु वह सदैव मात्र उसी की मनःस्थिति नहीं बनी रहती । वस्तुसृष्टि में परिणत हुई कला दृश्य-श्राव्य-मननीय बनती है । वह किसी भी माध्यम द्वारा व्यक्त हो सकती है । कारण, प्रत्येक कला के लिए "संप्रेषण" आवश्यक होता है । माध्यमों के विना यह सम्भव नहीं पाता । माध्यम उसे वस्तुत्व प्रदान करते हैं ।

डा. साहब के अनुसार भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में दो-तीन बार रस एवं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भाव को एक बतलाते हुए उनकी रचनात्मक अभिव्यक्ति के लिए तीन अवस्थाएँ कही हैं, जिस में एक (सामान्य) मूल्यीकरण भी होता रहता है। कोई भी एक अवस्था ही संपूर्ण कला नहीं है। न व्यक्ति की प्रत्येक मानसिक स्थिति कला बन सकती है।

पहली अवस्था में अर्थ या प्रयोजन से विभक्ति दूसरी अवस्था लाती है; और दूसरी अवस्था अर्थ (प्रयोजन) से गुणित होकर तीसरी अवस्था बनती है। फिर प्रथमावस्था और तीसरी अवस्था के गुणन-खण्ड तीसरी और प्रथम के गुणन-खण्ड से विगुणित होकर कला की तीन अवस्थाएँ सामने ला देते हैं। मध्यावस्था में कला वस्तु-रूप में साकार होती है। वही कला है : कलाकार के हृदय का महत्त्वपूर्ण अनुभव, साकार एवं सर्व प्रत्ययकारी।

नाट्यशास्त्र में व्याख्यायित - नट, नाटक, नाट्य-ये तीनों संज्ञाएँ भी बहुत साभिप्राय हैं। नट-नटियों का अभिनयादि 'नाट्य' कहलाता है। काव्य कला की रम्य कृति होती है नाटक जिसमें कवि (लेखक), सूत्रधार (निदेशक) नट-नटी (अभिनेता - अभिनेत्री) एवं अन्य समस्त नाट्यकर्मी प्रेक्षकों के सामने जो वस्तु पेश करते हैं और उसका प्रबुद्ध सहृदय श्रोता-दर्शक, समालोचक (प्रेक्षक वर्ग) द्वारा जो अर्थ (प्रयोजन) हृदयंगम होता है रंगभूमि में जिससे कि वे स्वयं भी प्रभावित होते और तन्मय होते हैं, वही नाट्य कला कृति की सफलता है, उपलब्धि है। कवि, सर्जक या लेखक की समस्त मूल मनःस्थिति जिस तरह संगमंच पर आनीत - अभिनीत और समस्त नाट्य-गृह में उपस्थित व्यक्ति - समाज द्वारा उपनीत - गृहीत हुई, वही नाटकीय वस्तु है। यह दृश्य - श्राव्य मननीय रूपाकृति धर कर पेश हुई, इसीलिए रम्यकाव्य (मात्र रम्य-रचना Belle Lettere नहीं) कहलाती है। कला की दृष्टि से इसकी पहली अवस्था में कवि (लेखक) या सर्जक एवं सूत्रधार (निदेशक) की समझ या व्याख्या; दूसरी में सू.(नि.) एवं अन्य सभी कुछ - मंच- व्यवस्था, आलोक पात, ध्वनियाँ एवं प्रधानतः अभिनेतृवर्ग - और, तीसरी में, इन सब के साथ प्रेक्षकवर्ग शामिल होकर कला का वह श्रेष्ठ रूप बनाते हैं जो अन्य किसी में उपलब्ध नहीं होता, जो सर्वतोभावेन "रस" एवं उसके सारे प्रकार, भेद, स्वाद पेश करता है और जो आस्वाद्य-आस्वादक (रसिक) के संघात में अपनी परिपूर्णता परिपक्वता प्राप्त करता है। इसीलिए " रसो वै सः " इस उक्ति का बहुविध महत्त्व है, कारण रस जीवन की समानांतर समानविध, समानधर्मा वस्तु है, अनुभूति है। जीवन को हम अनुभव (अनुभूति), अनुभाव्य-अनुभवनीय, अनुभविता आदि सभी का समाहार एवं सामंजस्य कह सकते हैं, ऐसा एक समग्र, जिसमें प्रत्येक अंश अपना स्वरूप संरक्षित रखकर भी पूर्ण एकात्मता में मिलता-जुलता रहता है। समस्त " सृष्टि " में यही बात है। स्त्रष्टा, सर्जना - सृष्टि, सृष्ट जगत् (जगती, ब्रह्मांड), विश्व आदि की ठीक-ठीक धारणाओं से भी यही साबित होता है। " चतुर्थः शिवः शान्तः " शान्तरस एवं नवरस, नटराज, नृत्य (भावाभिनय) नृत्त (मात्र गात्रसंचालन, अथवा इंगितचेष्टित, हाव-भाव का बाह्य अनुकरण), नाटक के सारे भेद, नाट्य अनेकानेक कला-प्रविधियों का वर्णन,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उपस्थापन, व्याख्यायन, जीवन-रंगमंच, आदि सभी शाब्दिक प्रत्ययों पर यदि गंभीर विचार करें तो सारी बातें और सबकुछ की पारस्परिकता स्पष्ट हो उठती हैं । डा. बारलिंगे ने अपनी कृतियों में इनका पुंखानुपुंख विश्लेषण - संश्लेषण प्रस्तुत कर हिन्दी-पाठकों का अत्यन्त उपकार किया है ।

आचार्य भरत ने " नाट्य (नाटक, काव्यार्थ) का स्वरूप विशद करने में ही "रस" शब्द का उपयोग किया है । " डा. साहब इसे नाट्य एवं नाटक की मध्यावस्था से जोड़ते हैं। " अभिनव गुप्तादि रस का सम्बन्ध तीसरी अवस्था से लेते हैं । " यह सब डा. बारलिंगेजी ने भली-भाँति दरसाया है । जिस नाट्यवस्तु की निर्मिति (उत्पत्ति-उपस्थापना) में भाव - अनुभाव-विभाव- संचारी (व्यभिचारी) का यथायथ संमिश्रण होता है उसी को भरत 'रस' कहते हैं । " उस -सिद्धांत से आनन्द का सिद्धान्त, आस्वाद का सिद्धांत " इत्यादि समझा जाता है । और, अभिनव गुप्त, मम्मट, विश्वनाथ एवं अन्य बड़े - बड़े आचार्य ऐसे सिद्धान्तों को प्रभावित किये हुए हैं । डा. साहब की दृष्टि से यह सब गलत प्रमेयों पर आधारित है । कहना न होगा कि डा. बारलिंगे ने काफी-कुछ परंपरावादियों की "भक्ति" में विक्षोभ पैदा किया और इसीलिए अनेक विद्वान् इस स्थापना को स्वीकृति नहीं दे सके । किन्तु डा. साहब अपनी इस धारणा पर अन्त तक अटल या दृढ रहे थे, कि नाट्यवस्तु नाटक में अभिप्रेत अर्थ से पृथक् है, "नाट्य शास्त्र की रस-चर्चा में यही बतलाया गया है । "संतोष की बात है कि वे इसे युक्तिसंगत बना पाये हैं ।

सर्व प्रथम बारलिंगेजी रस और भाव का तात्पर्य स्पष्ट करते हैं । रस मूलतः सांख्यशास्त्र का शब्द है और नाट्य शास्त्र में यथावत् आनीत-उपनीत होकर भी वह अपना मूल अर्थ नहीं खो देता ।

'सांख्य में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पाँच तन्मात्र परिगणित हैं । ये संवेदन (Sensation) का भ्रम भी कराते हैं किन्तु वस्तुतः ये मात्र मानसिक क्रियाएँ नहीं हैं । ये तो "वस्तु" का सूक्ष्म रूप दरसाते हैं । वस्तु का अन्य रूप महाभूतात्मक (स्थूल) है ।जैसे, शब्द से अलग आकाश, स्पर्श से वायु, रूप से तेज, रस से आप, गंध से पृथिवी या पृथ्वी । दोनों रूपों का नाता अवश्य बीजों एवं वृक्षों जैसा है ! ज्ञेय एवं ज्ञान के समान । तन्मात्र की तथता (ज्ञान) उसके महारूप में "ज्ञेय" हो पाती है, अन्यथा, वह अज्ञेय ही बना रहती, "ज्ञान" नहीं होती । अथवा - कहिए, कि तन्मात्र ज्ञेय है, महाभूत ज्ञान । वस्तु तो सूक्ष्म या स्थूल-इन दोनों का सामंजस्य है, जिसकी सिद्धि "विचार" द्वारा भी होती है ("विचार" में 'चर धातु का अर्थ गति एवं भक्षण है, यह याद रखें) । 'तन्मात्र' में 'तत्' का मतलब वस्तु ही है । और वह तदेव यानि तन्मात्र है । शुद्ध वस्तु (विषय) पर ज्ञाता माने विषयिता (Subjectivity) का कोई असर नहीं होता । इसी से वह "शुद्ध" है (यही बात शुद्ध चैतन्य, परमचैतन्य, परब्रह्म, परमात्मा, परमार्थ आदि की धारणाओं पर भी लागू होती है, जो आधुनिक भौतिक विज्ञान के वस्तु (ऑब्जेक्ट) के प्रत्यय से अलग है । वह तो अब यह स्वीकारने लगा है कि द्रष्टा (ज्ञाता) (observer)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्ञेय वस्तु (object) को प्रभावित करता है (influences) । तन्मात्र (तन्मात्र-ग्रहिका ज्ञानेन्द्रियाँ) भी पाँच हैं - पाचों तन्मात्रों के लिए पृथक् पृथक् हैं - अकारादि क्रम से : आँख, कान, जीभ, त्वचा, नाक। तन्मात्र ज्ञातृ-सापेक्ष नहीं, निरपेक्ष हैं । महाभूत ही ज्ञा. सा. हैं ।

इसी तरह रसभूत (भाव) - महाभूत (महाभाव) को शब्दार्थ (वागर्थ) की तरह, या अंग्रेजी के शब्द ontological (तात्त्विक) और Epistemic (ज्ञानात्मक या ज्ञानिक) के समान समझें। भावों एवं रसों की वस्तुनिष्ठता भाषिक रूपों में भी व्यक्त होती है - "काव्य-रस" (Poetic juice) की बात रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी कहते हैं । आयुर्वेद में रसौषधि एवं रसायनों की स्वीकृति है, और वह कदापि निर्वस्तुक नहीं होती ।

भरतमुनि रस-भाव के कलास्वरूप "त्र्यवस्थ" (तीन अवस्थामय) बखानते हैं जिसे कुछ आचार्यो ने पाठभेद कर के 'व्यवस्थ' माना है, परन्तु यह ठीक नहीं, उनकी अपनी नासमझी है । क्षमा करे, हम यहाँ डा. साहब के शब्दों का आशय संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं, उन्हें ज्यों के त्यों उद्धृत नहीं करते - स्थान-संकोच के कारण ।

त्र्यवस्थ में प्रथम अवस्था कलाकार के मन का विशिष्ट भाव है । इसका प्रतीक - प्रक्षेपण (Symbolisation) दूसरी अवस्था है । इसी को 'कला' मान सकते हैं । कला का प्रत्यय (धारणा) रसिकद्वारा होने पर कलाकार एवं रसिक दोनों की भावात्मक मन : स्थितियाँ कला के स्वरूप एवं प्रयोजन को गहती हैं । कला 'रसमयी' हो उठती है । कला स्वरूपों को हम विशिष्ट मनोवस्थाओं की सर्वानुभवनीय वस्तुपरिणति कह सकते हैं (अंग्रेजी में कहें तो ये Emotive & Sentimental mind-sets ही कहलायेंगे ।) "रस" से भरत को यही आशय अभिप्रेत था । "नाट्य" में यह भरपूर हो उठता है । कारण, उसमें अन्य कई कलाएँ समाविष्ट और अनेक कलाकार एवं शिल्पी अपना-अपना योगदान करते हैं ।

बारलिंगेजी का निर्देश है कि भरतमुनि 'भाव' शब्द का प्रयोग 'अस्तित्व' या 'वस्तु' जैसा ही करते हैं, मसलन, "योऽर्थो हृदय-संवाही तस्य भावो रसोद्भव : "(भ.नाट्यशास्त्र, अ.७ का.७) - इसमें भाव का अर्थ केवल अस्तित्व है, भावना नहीं है । यह तो बाद में आरोपित हुआ है । भरतमुनि ने स्पष्ट कहा है :" भवन्तीति भावा : । किंवा, भावयन्तीति भावाः । उच्यते - वागंगसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः। भू इति करणे धातुः तथा च भावितं वासितं कृतम् इति अर्थान्तरम् । लोकेऽपि च सिद्धमित्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितम् इति ।" (७वाँ अध्याय, प्रा.अं.)

जाहिर है कि भाव शब्द से भरतमुनि का मतलब - भावों की अभिनयादि में परिणति से पहले (रसोद्भव से पहले) की - कलावस्तु की कारण सामग्री - थी । चाहे वे मानसिक हो या नहीं सभी इस कारण-सामग्री में सम्मिलित हो रहते हैं । ये भाव ४९ प्रकार के हैं - जिन के तीन वर्ग हैं : सात्त्विक, स्थायी एवं संचारि (व्यभिचारि) । वे भी कारणस्वरूप हैं । अतः 'भवन्ति' और 'भावयन्ति' कहा गया है। कवि या स्रष्टा की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विशिष्ट मनोवस्था स्थायी भाव के रूप में.पहली, वागंगोपेत-नानार्थविभूषिता अवस्था दूसरी (मुख्यतः कला-हृदय) और तीसरी में तो अन्य सभी आते हैं । भरत भी यहाँ स्वीकारते हैं: "कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ।" 'भावयन् ' के माने प्रकट, स्पष्ट, करना और प्रभाव डालना हैं । मूल भाव की स्थिति दीपक जैसी है : स्वप्रकाश एवं सर्वप्रकाशक । अतः यहाँ भाव शब्द का अर्थ मानसिक, शारीरिक, पारिवेशिक आदि सभी स्थितियों से ही निकलता है । कला की तीसरी अवस्था में रससिद्धि (रसास्वाद), रसिक आदि सभी शुमारे जाते हैं, जिसे बहुधा हम "अर्थ" या "प्रयोजन" भी कहते हैं। इसी संदर्भ में भरत के अन्य दो कथन : " नहि रसादृते कश्चिदपि अर्थः प्रवर्तते" । (अ.६) और "यो ऽर्थो हृदय-संवादी तस्य भावो रसोद्भवः ।" (अ.७/का.७) विवेच्य हैं ।

इसीलिए अर्थ (प्रयोजन) को कलास्वाद का प्राण कहा जाता है । किन्तु दूसरी अवस्था (नाट्य में रस, अन्य कलाओं में वस्तु-करण, वस्त्वपस्थापन, वस्तु-प्रस्तुति) कला-सर्जना की "जीवन्त" अवस्था है । अर्थ पहले, आस्वाद पीछे । इसीलिए शब्द - अर्थ, नाट्य, रस, रूपाकृति विना कला की संभावना नहीं की जा सकती । आस्वाद में अर्थ का विश्लेषण आनंदवर्धन ने किया तो नाट्य को प्रयोगात्मिका कला को दर्जे से हटाकर उसे रम्य-काव्य मानने से शब्द-अर्थ और रस का तादात्म्य - सघन एकरूपता - अभिनव गुप्त ने स्थापित की और एक प्रकार से कलाशास्त्र का शुद्ध-स्वरूप तिरोहित हो गया । तभी प्रयोगधर्मा नाटकों के बजाय काव्य-नाटक ही ज़्यादा लिखे गये । भारतीय रंगमंच और नाट्यजगत् की इस तरह अवनति होने लगी । डा. बारलिंगेजी ने इस स्थिति को अच्छी तरह उजागर किया हैं ।

वे कहते हैं कि प्रयोगात्मक नाटक भी विशुद्ध कलाकृति तो नहीं वरन् पुष्ट या संमिश्रित कलाकृतियाँ हैं । जिनमें काव्य दिग्दर्शन, अभिनय, संगीत,नृत्य, चित्र, स्थापत्य, भास्कर, मंच व्यवस्था, आलोक-पात, ध्वनि-प्रभावोत्पादन, दृश्य-वैचित्र्य की जादूगरी सभी शामिल होते, या हो सकते हैं । लक्ष्य बनी रहती हैं: ये तीन प्रक्रियाएँ और उनके प्रयोक्ता : १) निर्माता, २) निर्मिति की दृश्यात्मक अनुभवनीयता, और, ३) आस्वाद । तभी तो कला-भाषा की संवादिता (communicativity) और जटिलताएँ (complications) सदा-सर्वथा-सर्वत्र अवधेय रहती बनी हैं । आस्वाद का आनन्द-से अटूट साहचर्य रहे, यह सभी चाहते हैं । किन्तु एकमात्र वही कला का अर्थ, उद्देश्य या हेतु नहीं हो सकता है । तथा आनंद -विशेष भी बहुविध होते हैं । आनन्द एवं रस स्वतंत्र रूपसे स्वीकार्य हैं । कम से कम नाट्यशास्त्रोंमें । भरत के "रस" शब्द में से सांख्य एवं आयुर्वेद के प्रभाव नहीं हटाये जा सकते । नाट्यनिर्मिति-प्रक्रिया से ही 'रसोद्भव' होता है इसीलिए पहली दूसरी अवस्थाओंका निरूपण स्वयं भरत ने ही किया है ।

नाट्यवस्तु को त्रयोदश-विध मानकर भरत प्रथम स्थान तो रसवस्तु को ही देते हैं । नाट्यकला में 'रसवस्तु' के बिना अर्थ-प्रवर्तन नहीं हो सकता, जैसे कथा, काव्य एवं संगीत आदि मे श्रव्यात्मकता के कारण "कथ्य","ध्वनि" या "शब्द" वस्तुएँ होनी ही

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चाहिए। वाणी और वीणा, रस और अर्थ, वाक् और अर्थ का साहचर्य काव्य, नाट्य, संगीत में सदा-सर्वत्र-सर्वथा अपेक्षित है। अर्थ का मतलब यदि 'विषय' लें तो बात और भी ज़्यादा साफ़ हो जाती है। रस की पदार्थता (वस्तुता) अपनी प्रयोजनीयता (आस्वाद्यता) के कारण भी नकारी नहीं जा सकती। भरत ने इसीलिए आस्वाद-प्रक्रिया का ठीक वर्णन किया है।

ध्यान रहे कि परवर्त्ती काल में नाट्य और नाटक में व्युत्पत्तिगत भेद न करने से भी बहुत काफ़ी घपला है। नाट्य में नटके अभिनय प्ररोचित भाव ही है। नाटक उसके और अन्य सहयोगियों का कर्म-समुच्चय होता है। इनके कर्तृत्त्वों को ही नाटक सहेजता है। उसका आशय ज़्यादातर तो कथ्यवस्तु एवं प्रस्तुति से होता है। नाट्य का सीधा संबन्ध रंगमंच पर प्रस्तुत कथ्य-वस्तु के आविष्करण एवं दृश्य-श्रव्य-मननीय रूपान्तरण से है। रम्य काव्य-कृति के रूप में भी नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत न किए जायें तो भी नाटक ही कहलाते हैं। (हिंन्दीमें, सेठ गोविन्द दास के कितने ही नाटक ऐसे ही हैं।)

रंगमंच ही नाट्य का परमावश्यक माध्यम (साधन) है। इसी के द्वारा कवि-कलाकार और अन्य अदाकारों के भावाभिनय आदि को नाटकीय वस्तुत्व मिल पाता है। भरत के अनुसार " नाट्य" को रंगमंचीय पदार्थ या वस्तु के एक मुख्य घटक कोभी 'रस' कहा जाता है और नाटकीय आस्वाद्य तत्त्व भी। कलाकृति स्वतः ही एक आस्वाद्य, अनुभवनीय वस्तु न बने तो वह कलाकृति भी नहीं बनती। पंडितराज जगन्नाथ काव्य की सामान्य परिभाषा रमणीय - अर्थ की प्रतिपादकता से मानी है तो रमणीय की परिभाषा और एक मनीषी ने ' जो प्रतिक्षण नवीन होता रहे, वही रमणीय है' की है। यदि किसी में मनोज्ञता (मनोरमता) न हो वह"पदार्थ" रमणीय नहीं हो सकता, आस्वाद्य भले ही हो सरस या रसमय नहीं बनता। कला-सृजन में (सरस) शब्दार्थ एवं आलोक, ध्वनि एवं रंगरूपाकृति काम आते हैं गन्ध-स्पर्श जैसे अन्य तन्मात्र नहीं; कारण उन्हें रस, रूप शब्द आदि का आशय लेना पड़ता है अपने यत्किंचित कलायन में। प्रकृति तो सुगन्धित सुकोमल पुष्प उत्तम कलाकृतियों की तरह पेश करती है लेकिन "ललित कलाएँ" वैसा नहीं कर पातीं। वे चाहे जैसा नाट्य (अनुकरण) करें। भरत ने भावों और रसों को "त्र्यवस्थ" कहकर यही मर्मोद्घाटन किया था। भाषा और कला में इसी कारण अनेकरूपा समानता है। दोनों ही अवस्थान्तरण के कारण, साधन, माध्यम बन पाती हैं। भाव एवं रस एकाकार हो उठते हैं। भाषा एवं कला के प्रयोगात्मक पक्ष (पहलू) स्वतः सरल नहीं अतिकठिन होते हैं। उनकी साधकता की सिद्धि में परिणति आसान कभी नहीं होती। रस-निष्पत्ति एवं रसास्वादन भी एक ही सिक्के के दो भिन्न किन्तु संयुक्त ही पहलू माने तो ठीक होता है। डा. बारलिंगेजी यह भी एकाधिक बार भलीभाँति प्रमाणित करते हैं - अपने रस-सिद्धि शीर्षक अध्याय में और अन्यत्र भी।

डा. बारलिंगे सदा ही परम्परा से हटकर आचार्यों के मतों को समझने-समझाने का प्रयत्न करते रहे थे। उन्हें विश्वास था कि प्राचीन आचार्य भी कला एवं काव्य की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समस्याओं के समाधान प्रस्तुत कर सके थे । हम उनको यथायथ विवेचना करें यही काम्य एवं परमावश्यक है ।

कलाकृति की निर्मिति एवं संप्रेषणा में जो भी प्रक्रियाएँ कभी कहीं व्यवहृत हों उन्हें समझे विना कला का मर्म या कृति का अभिप्राय जानकर ही कलाकार के भावों के साथ तादात्म्य नहीं होता है, इस तथ्य पर डा. साहबने भरपूर आलोक-पात किया है । सच तो यह है कि, सूक्ष्मबुद्धि कलारसिक भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं समस्त कलाजगत में, जितने कि कलाकार एवं उनके मुख्य सहयोगी । उनका ' रस-सिद्धि ' शीर्षक इसीलिए बारंवार सम्यक् अध्येय है । अनुभव, अनुकरण, प्रस्तुति-करण, मूल्यांकन, आस्वादन ये सभी तत्त्व सारी कलाकृतियों में जटिलता से गुँथे रहते हैं । वे इन चिरागत शब्दों की अपेक्षा अनुभूति, अनुकृति एवं अनुकृति, प्रस्तुति एवं समालोचन को तरजीह देते हैं । कारण, कलाएँ मूर्त्त-अमूर्त्त को ग्रहण करने की प्रवृत्तियोंसे भी ज़्यादातर संप्रेरित होती है। वे वास्तविकता का भी प्रतिनिधित्व करती हैं, उसका प्रतिरूप ही नहीं बनी रहतीं । कलाकृति या कलायन संपूर्ण होते ही उतना अधिक जटिल-संकुल नहीं रहता, जितना कि वह सभी स्तरों पर शुरू शुरू में लगता है । इसीलिए उनकी यह धारणा है कि प्रत्येक कला विकास समतल और क्रमशः ऊर्ध्वस्तरों की ओर द्विविध होता रहता है । उसकी स्थानिक एवं कालिक तथा चेतन एवं अवचेतन में अवगाहन जैसी और सीमाएँ तो रहती ही हैं, माध्यम की वस्तुगत परिधियाँ भी कभी कम नहीं होतीं । तदुपरि कला की अपनी गतिमयता की सीमा तो सदा-सर्वत्र-सर्वथा बनी रहती है । भरत ने ये समस्याएँ रस, धर्मी, वृत्ति एवं प्रकृति में वर्गीकृत की थीं, और उन्हें नाट्यधर्मी तथा लोकधर्मी प्रेमियों में भी परिगणित किया । कला द्वारा मूल वस्तु का प्रतिनिधित्व संपूर्ण करने-रखने में मूल ग्राह्य तत्त्वों के निर्वाचन एवं प्रस्तुतिकरण पर युगपत् ध्यान रखना पड़ता है । संक्षेप में यहां भी यही तो अवधेय है कि, कलाकृतित्व, प्रस्तुति एवं संप्रेषण की संपूर्णता में से किसी एक की भी कमी या दोष रस-सिद्धि में अन्तराय (विघ्न-बाधा) बन सकते हैं ।...

नाट्य-कला एवं नाटक में रस एवं रस-सिद्धि को अलग बताकर - विशेषतः भरतमुनि का यह आशय उनके नाट्यशास्त्र के आधार पर प्रमाणित कर डा. साहब ने सभी कलाध्येताओं का बहुत उपकार किया है, कारण कला के रस की यदि सिद्धि (उपलब्धि) पूर्ण आस्वादन से प्राप्त या उपलब्ध भावातिशय और / या समग्र शान्ति प्रेक्षक-रसिक आदि के चित्त में स्फुरित न हों तो कला का दर्जा नीचा बना रहता है । उसकी समूची वाञ्छनीय संप्रेषणीयता भी अधूरी रह जाती है । इसीलिए तो रस और आनन्द का समीकरण भी समीचीन नहीं । इससे कला-प्रयोग-पक्ष विकसित नहीं हो पाता । उक्त भूल में 'अद्वैत दर्शन' का भी कुछ अवदान हो सकता है । कार्य-कारण-भेद की अस्वीकृति, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की त्रिपुटी का लय, प्रकृति का मायात्व, निष्काम-निष्क्रिय 'पुरुष' की स्थापना आदिने जीवन के ऐहिक विकास में बाधा खड़ी की, इसे न मानना भी एक तरह से व्यावहारिक सच को झुठलाना है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कोई भी कला भौतिक सृजन (सर्जना, कृति, सृष्टि) होने के साथ प्रकृति एवं जीवन की अनुकृति एकदम न हो या रहे, यह तो असंभव-सा ही है। प्रकृति, मानव, कला, संस्कृति आदि सभी तो समग्र जीवन एवं सृष्टि के संपूरक गुणन-खंड हैं; इसी दृष्टि से प्रविधियों (तकनीकों) का यथायथ विकास होता है। आवश्यकतानुसार उत्पादन संभव होता है। यथायथ वितरण की समस्या बाद की है। संपदा का प्राचुर्य प्राथमिक है। यह सब सही है किन्तु बाद की बातों पर पूरा ध्यान रखना जरूरी है। अन्यथा दुरुपयोग ही जड़ें पकड़ता है।

"रस-सिद्धि" अध्याय के अतिरिक्त 'कला और सौन्दर्य" शीर्षक कृति में 'नाट्य का रस और काव्य का अर्थ (ध्वनि)', 'भरतमुनि और काव्यशास्त्र', 'काव्य-विम्ब' और 'काव्य दर्शन के क्षेत्र में वामन के योगदान का स्वरूप' अध्याय भी पढनीय हैं, जैसे कि पहली कृति "सौंदर्य तत्त्व और काव्यसिद्धांत' में मराठी के कई दिग्गज समालोचकों की चर्चा से संबंधित अध्याय।

हिंदी में १०-१५ साल पहले तक उपलब्ध ड. बारलिंगे की कृतियों का संक्षिप्त-सुसम्पादित संग्रह नये संस्करण में आ सके तो बहुत अच्छा होगा। हम (उनके सभी प्रशंसक, शिष्य आदि) ऐसाही करें; और हिन्दी पाठक वर्ग का प्रभूत उपकार हो यही इन पंक्तियों के लेखक की प्रार्थना है।....

३३ पूर्वपल्ली
शांतिनिकेतन ७३१२३५

पृथ्वीराज शास्त्री

■

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna A.M. Ghose(eds), Comtemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran.) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi(ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A. M. Ghose and P. K. Srivastaav(eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and P. P. Gokhale(eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities(upto 1980), Part I, Rs. 50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs. 25/--

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs. 30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs. 100/-

Contact :

The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Pune,
Pune-411007

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रो. बारलिंगे : सौंदर्यशास्त्रविषयक लेखोंका परिचय
(''कला और सौंदर्य'' पुस्तक की प्रस्तावना)

मेरे गुरु डॉ. सुरेन्द्र बारलिंगेजी के लेखों का संग्रह आज पुस्तक रूप में प्रकाशित हो रहा है, यह मेरे लिए आनंद तथा अभिमान की घटना है। गत करीब-करीब तीस-चालीस सालों से वे दर्शन की अनेकों समस्याओं पर चिंतन करते आये हैं, अपने चिंतन को लेखादि के रूप में प्रकाशित भी करते रहे हैं। उनके चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है कला और सौंदर्यानुभूति। वे स्वयं कलाप्रेमी हैं और सौंदर्यानुभूति के अच्छे माहिर भी हैं। अपनी अनुभूति के रूप में प्रकट करने के लिए दार्शनिक वृत्ति की सामर्थ्य आवश्यक होती है। डॉ. बारलिंगेजी एक समर्थ दार्शनिक हैं और उनमें एक पैनी तथा शक्तिशाली दार्शनिक दृष्टि भी है। इसी कारण वे जीवन की अनेक समस्याओं का हल सुझाने का कार्य करते रहे हैं और जीवन की गहरी अनुभूतियों का एक सहृदय आलोचक के रूप में परिशीलन करते रहे हैं। वे स्वयं अच्छे कवि एवं उपन्यासकार हैं तथा अनेकों कलाओं के अच्छे मर्मज्ञ भी हैं। ऐसे व्यक्तित्व से उतरे इन लेखों का महत्त्व अनूठा है। प्रस्तुत संग्रह के लेखों में कुछ लेख पूर्व-प्रकाशित हैं। वस्तुतः वे हिंदी, अंग्रेजी तथा मराठी इन तीनों भाषाओं में हमेशा लिखते रहे हैं। उनके कुछ लेखों को चुनकर और जरूरत के मुताबिक हिंदी में अनुवादित करके यह लेख-संग्रह बना है। इस संग्रह में चर्चित प्रायः सभी विचार उन्होंने अपने मित्रों तथा विद्यार्थियों के साथ बातचीत करते हुए व्यक्त किये हैं। प्रस्तुत संग्रह के करीब चार लेख उनकी सुपुत्री डॉ. क्रांतिप्रभा पांडे के लिखे हैं। कांट के सौंदर्य विषयक विचारों पर अपना शोधप्रबंध लिखते समय डॉ. पांडे ने अपने पिताजी के साथ संवाद करते हुए जिन महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को विकसित किया, उन्हीं को इस लेख-संग्रह में समाविष्ट किया है।

प्रस्तुत लेख संग्रह के पीछे एक दार्शनिक भूमिका है जो इन सभी लेखों को एक सूत्र में गूंथ देती है। इस सूत्र के दो सिरे हैं -- कला और मनोज्ञता। 'सुंदर' के बजाय 'मनोज्ञ' शब्द का प्रयोग करना उस दार्शनिक भूमिका को सूचित करना है। वही भूमिका इन लेखों की गहराई का अंदाज लगाने में मदद करती है। अतः हम उस भूमिका को थोड़े में समझ लेने की कोशिश करें।

निर्माण करना मनुष्य के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण विशेष है। इसीसे प्रतिसृष्टि का निर्माण होता है और मनुष्य उसके अनुभव में जीता है। यह अनुभव अनेकों तरह का होता है और उसका पर्यवसान आनंद में[1] होता है। अर्थात् मनुष्य न केवल अपनी बनायी प्रतिसृष्टि का अनुभव करता है बल्कि प्राकृतिक सृष्टि का भी अनुभव करता है

---

१. आनन्द तथा सुख - इनमें मैं मौलिक भेद मानता हूं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और यह अनुभव भी प्रायः आनंन्द-पर्यवसायी होता है । ऊपरी सतह पर इन दोनों सृष्टियों के अनुभव की प्रक्रिया एक जैसी ही प्रतीत होती है । लेकिन उनमें भेद भी है। मनुष्य को उसकी अपनी बनायी सृष्टि से कुछ लगाव-सा होता है और उसके अनुभव में वह उसकी परिष्कृति की भी सोचता रहता है । उस सृष्टि के अनुभव में उसे कभी-कभी एक तरह की मुग्धता आती है और इस मुग्धता के कारण वह अपने निर्मातृत्व को और ही स्वाद से चखता है । इस तरह के अनुभव में मनुष्य को अपने किसी एक रूप की भी प्रतीति हो आती है और वही प्रतीति आनंद-पर्यवसायी होती है । लेकिन प्राकृतिक सृष्टि के अनुभव में प्रायः प्रतीति होती है विश्व-रूप की और यह प्रतीति कुछ अलग भावना से मनुष्य का उन्नयन करती है । प्राकृतिक सृष्टि के कुछ ऐसे दृश्य होते हैं जो मनुष्य को मुग्ध बना देते हैं । लेकिन यह मुग्धता उसे उस दृष्टि से लगाव के किसी डोर से बांध नहीं रखती, मनुष्य इस मुग्धता के परे हट जाता है । अपनी बनायी सृष्टि के अनुभव में आनेवाली भाव-विभोरता प्राकृतिक सृष्टि के अनुभव से प्राप्त अवस्था से कुछ भिन्न रहती है । क्योंकि प्राकृतिक सृष्टि का अनुभव उसके लिए मूलतः अनुभव है, किसी रूप का ग्रहण है । उस अनुभव से उसमें एक प्रेरणा उत्पन्न होती है अभिव्यक्ति की और उसका जीवन एक नये सिरे से शुरू होता है । लेकिन उसकी अपनी बनायी प्रतिसृष्टि असल में उसकी अनुभूतियों, प्रतीतियों तथा भावों की अभिव्यक्ति होती है, और इस अभिव्यक्ति का अनुभव आत्मविभोर बना देता है । किसी आनंदावस्था में डुबो देता है । इस अभिव्यक्ति के अनुभव से उसे प्रतीति हो आती है अपनी निर्मिति-क्षमता की, अपने प्रसव-रूप की । उसका अपना प्रसव रूप उसके आनंद का आधार है लेकिन उस प्रतीति में जो कुछ ग्रहण किया जाता है उसका पर्यवसान अभिव्यक्ति के बजाय उसी प्रतीति से एक रूप हो जाने में होता है -वह प्रतीति अभिव्यक्ति का निमित्त बनने के बजाय पुनः प्रतीति का ही विषय बनती है । और इस तरह की श्रृंखला केवल आनंदावस्था में बनी रहती है । इससे एक बात स्पष्ट होती है कि हरेक तरह का अनुभव और उसमें होनेवाला ग्रहण एक जैसा नहीं होता, ग्रहण के साधन भी एक नहीं होते और ग्रहण के पर्यवसान भी एक नहीं होते ।

प्राकृतिक सृष्टि में मनुष्य जब अनुभव करता है तब वह उस सृष्टि के रूप का ग्रहण करता है । इस ग्रहण का पर्यवसान उसकी अनुभूति में, प्रतीति में हो जाता है। वह कुछ पाता है और जिसे पाता है उसे अभिव्यक्त करने की प्रेरणा उसमें होती है । उसका यह ग्रहण ग्रहण किये हुए अंश को परावर्तित करता है । अर्थात् वह परावर्तन केवल उसी रूप का परावर्तन न रहकर उसमें मनुष्य के कर्तृत्व का स्पर्श रहता है । यह ग्रहण ग्रहण किये अंश को व्यक्तित्व के निचली सतह तक चूता या रिसता नहीं बल्कि ऊपरी सतह से ही उसका परावर्तन किये देता है । जब ग्रहण किया अंश व्यक्तित्व की निचली सतह तक चूता है तब एक और ही तरह की अनुभूति हो आती है, आत्म-विभोरता की वह अवस्था आत्म-प्रत्यायक होती है । लेकिन इस तरह की अनुभूति के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिए आवश्यक होनेवाला ग्रहण किसी और तरीके का होता है। जब मनुष्य अपने ग्रहण को परावर्तित करता है, अभिव्यक्त करता है तब उसकी अभिव्यक्ति भी एक तरह से प्रतिसृष्टि ही होती है। मनुष्य की इस अभिव्यक्ति का तथा प्रतिसृष्टि के स्वरूप का एवं आयामों का आलोडन करना यह दर्शनशास्त्र का उद्देश्य होता है। इस अभिव्यक्ति के रूप तो विपुल होते हैं। लेकिन इन सभी रूपों तथा आयामों का आलोडन करके जो फलित के स्वरूप पाया जाता है वह मनुष्य का सही योगदान होता है। इस योगदान का परिशीलन मनुष्य की अपनी बनायी प्रतिसृष्टि को अधिक सुघड़ एवं सुस्थिर बनाने के लिए आवश्यक होता है।

इस संदर्भ में मनुष्य का अंतःस्वरूप जानना आवश्यक होगा। जैसाकि हमने कहा है, वह अपने से पर या परे होनेवाली सृष्टि का अनुभव करता है और इस अनुभव में वह कुछ ग्रहण भी करता है। यह ग्रहण विभिन्न प्रकारों का होता है। अतः उसके ग्रहण की सामग्री का भी विचार होना चाहिए। उसके अंतःकरण का हम एक निश्चित नक्शा कभी दे नहीं पाते। लेकिन संदर्भ के मुताबिक हम उसके अंतःकरण के किन्हीं अंशों को जरूर आँक सकते हैं। उसकी बुद्धि यह उसके ग्रहण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। इस बुद्धि की विशेषता है ग्रहण यथातथ्य हो। और बुद्धि यथातथ्य प्राप्त ग्रहण के अंशों को तुरंत परावर्तित भी कर देती है। लेकिन केवल बुद्धि ही उसके अंतःकरण का अंश नहीं है। बुद्धि के साथ-साथ उसमें भावना है, वासना है जिन्हें हम मन की व्यापक संज्ञा से सूचित कर सकते हैं। यह मन भी अनुभव करता है और अनुभव में ग्रहण करता है। मन के द्वारा किया ग्रहण वृत्ति-प्रवृत्ति आदि रूपों में बदल जाता है और मनुष्य के आंतरिक विश्व का अंश बनकर रहता है। उसके आधार से ही भावना, वासना, प्रेरणा, चोदना, कामना आदि प्रकार के व्यवहार होते जाते हैं और प्राकृतिक सृष्टि पर मनुष्य अपनी बनायी सृष्टि को आरोपित करने में सफल हो जाता है। इसी कारण मनुष्य के जीवन का प्राकृतिक प्रवाह प्राकृतिक न रहकर उसका अपना बनाया हो जाता है। यही वह ग्रहण का द्वार है जिसमें प्रवेश करने के बाद ग्रहण के अंशों पर मनुष्य अपने संस्कार करके, अपने स्पर्श से उन्हें पुनरुज्जीवित बनाता है और अपनी सृष्टि रचता है, उनको पुनःप्रत्यय के लिए योग्य बनाता है। इस तरह मनुष्य के अनुभव एवं अनुभव में अनुस्यूत ग्रहण के फलित केवल सानुरूप न रहकर अन्य रूप भी होते हैं। मनुष्य के स्वभाव के इसी वैशिष्ट्य के कारण हम उसकी तीन मौलिक भूमिकाओं को विभिन्न देख पाते हैं। मनुष्य न केवल ज्ञाता है बल्कि वह कर्ता भी है और भोक्ता भी है। जैसे वह अपनी ज्ञातृता का अनुभव करता है वैसे ही वह अपनी कर्तृता एवं भोक्तृता का भी अनुभव करता है। उसका जीवन तथा उसकी प्रतिसृष्टि उत्पन्न करने के व्यापारादि समझ लेने के लिए उसके इन तीन ही रूपों से ज्ञान होना आवश्यक है। लेकिन ये तीन रूप उसके व्यक्तित्व को तीन खंडों में विभाजित नहीं करते, बल्कि इन तीन आयामों से उसका जीवन संपूर्ण एवं संपन्न बनाते हैं। यह हो सकता है इसका मुख्य कारण है कि इसके ये तीनों रूप मूल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में उसके स्वरूप से जुड़े हुए हैं, न कि वे एक ही हैं। उसका यह मूलस्वरूप, जैसाकि उपनिषद बतलाते हैं, अवर्णनीय तथा अनिर्वचनीय है। वह इन सभी व्यवहारों के, व्यापारों के; विविधताओं के परे है, फिर भी इन सभी व्यवहारों, व्यापारों एवं विविधताओं का आधार है। यही उसका साक्षीत्व है। यह साक्षीत्व जैसे उसका इन सब रूपों से मुक्त होना बताता है वैसे ही इन सब रूपों को संभव बनाने वाला भी बताता है। इस आत्मस्वरूप को प्रकाशरूप, स्वयंज्योतिस्वभावरूप माना गया है। यह उसकी सामर्थ्य है जिसके कारण वह अनेकों रूप धारण कर सकता है क्योंकि वह ज्ञानरूप भी माना गया है। लेकिन उसका इस अर्थ में ज्ञानरूप होना उसकी ज्ञाता की भूमिका से भिन्न है। उसका ज्ञानरूप होना उसकी सामर्थ्य को बताता है, उस सामर्थ्य को जिस सामर्थ्य के कारण अनुभव, ग्रहण, प्रतीति, ज्ञान, कर्म, भोग आदि सब संभव हो जाते हैं। उसके इस सामर्थ्य के एक अंश को हम संज्ञान की संज्ञा से संबोधित कर सकते हैं। यह संज्ञान या संज्ञातता उसका व्यापार समझा सकता है। अतः हम कह सकते हैं कि इसी संज्ञान के कारण ही उसकी ज्ञातृता, कर्तृता और भोक्तृता संभव होती है। वस्तुतः संज्ञातता उसके सामर्थ्य का वह रूप है जो इन विभिन्न भूमिकाओं में एक विशिष्ट आकार धारण करता है और ज्ञातृतादि रूपों में उन्मेषित होता है। संज्ञान वह सामर्थ्य है जिससे अनुभव, ग्रहण, प्रतीति संभव होते हैं और जिससे कार्य तथा भोग भी संपन्न होते हैं। मनुष्य के अंतःकरण के विभिन्न अंगों के कारण ही इस संज्ञातता के फलित बदलते जाते हैं।

मनुष्य का संबंध जब किसी वस्तु से आता है तब न उसे केवल उस वस्तु के रूप का ज्ञान होता है बल्कि उस वस्तु के प्रति उसके मन की कोई वृत्ति या चाह भी उत्पन्न हो सकती है। मनुष्य का व्यापार केवल बुद्धि का नहीं होता, वह उसके मन का भी होता है। और अंतःवस्तु का व्यवहार अनेकों तरह से किया जाता है। किसी गुलाब के फूल को देखकर 'यह गुलाब का फूल है' इस तरह का ज्ञान उसे होता है। लेकिन उसके साथ ही साथ वह गुलाब का फूल उसे लुभाता भी है और वह कहता है 'यह फूल बहुत सुंदर है।' उसके मन को लुभाने वाला फूल का सौंदर्य वह अभिव्यक्त करना चाहता है। वह शब्दों में उसका वर्णन करता है या कभी-कभी रंगरेखाओं से उसका चित्र बनाता है। पेड़ पर उगे गुलाब के फूल को देखना और किसी कलाकार के शब्दों या रंगरेखाओं से बनाये गुलाब के फूल को देखना एक जैसा नहीं है। दोनों अनुभवों का पर्यवसान भी एक जैसा नहीं है।

मनुष्य की संज्ञातता के हरेक स्तर पर उभरने वाले अनुभव का स्वरूप विभिन्न अवश्य होता है। उसकी अभिव्यक्ति भी अनेकों तरह से होती है। फिर भी अगर हम उसकी भाषिक अभिव्यक्ति पर अधिक बल दें तो हमें कुछ महत्त्वपूर्ण बातें दिखाई देती हैं। उसके अनुभव को जब भाषा के रूप में अभिव्यक्त किया जाता है तब उस अभिव्यक्ति का आकार किसी निर्णय जैसा होता है। सभी निर्णय एक जैसे नहीं होते। 'यह गुलाब

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का फूल है' या 'यह फूल लाल है' यह निर्णय 'यह फूल बहुत सुंदर है' इस निर्णय से भिन्न है। इस तरह के निर्णयात्मक विधानों का परिशीलन दर्शनशास्त्र में किया जाता है। निर्णय के प्रकार के मुताबिक दर्शनशास्त्र की शाखा भी बदल जाती है। अतः इन निर्णयों में कौन-सी बात प्रधान है इसका भी हमें अधिक विचार करना होगा। सभी निर्णय किसी न किसी अनुभूति के फलित होते हैं। लेकिन जैसाकि हमने कहा है, अनुभूतियाँ भी विभिन्न तरह की होती हैं। कभी हम किसी अनुभूति को ज्ञानात्मक कहते हैं तो कभी सौंदर्यात्मक। यह भेद कैसे निष्पन्न होते हैं ? ज्ञानात्मक अनुभूति में अनुभूति ज्ञानरूप या ज्ञानप्रधान होती है। इसमें बुद्धि का सहयोग सबसे अधिक मात्रा में और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। सौंदर्यानुभूति में अनुभूति सौंदर्यरूप होती है। जिस वस्तु का अनुभव किया जाता है उस वस्तु का उसके सौंदर्य के आयाम से अनुभव किया जाता है और एक तरह से वस्तु के उस धर्म को संज्ञातता में 'चखा' जाता है। इस तरह के 'चखने' के फलस्वरूप जो अनुभूति होती है वही सौंदर्यानुभूति होती है। वह मन को लुभानेवाली, सुखानेवाली, आह्लाद देनेवाली होती है, वह मन को प्रसन्न करती है। यहाँ उभर आनेवाला संज्ञान का बंध मन को लुभानेवाला, मन को आह्लाद देनेवाला होता है। और जब इस तरह सौंदर्यानुभूति होती है तब जिस विषय के निमित्त वह अनुभूति होती है उस विषय को हम सुंदर कहते हैं। उस विषय में कोई धर्म होता है, उसका ग्रहण मन से होता है और उस धर्म के ग्रहण से मन को आह्लाद होता है, आनंद होता है, वह ग्रहण मन से होता है और उस ग्रहण का पर्यवसान मनुष्य के लिए किसी एक आनंदावस्था में होता है। अतः जिस धर्म का मन से ग्रहण होता है और जो धर्म आह्लाद देता है उसे मनोज्ञ भी कहा जाता है। इस तरह 'सुंदर' यह वस्तु का मनोज्ञ-धर्म है - वह मन से जाना जाता है या उसका मन से ग्रहण किया जाता है और वह मन को लुभाता है, प्रसन्न बना देता है। मनोज्ञता का इस तरह निर्णय किया जाता है। मनोज्ञता के इस निर्णय में पाया जानेवाला संज्ञान का बंध एक स्वतंत्र बंध होता है, और उसका परिशीलन करते हुए दर्शनशास्त्र एक नये मोड़ पर आता है।

प्राकृतिक सृष्टि का अनुभव करते हुए उभर आनेवाले संज्ञान के बंध में मूलतः तथा प्रायः ज्ञानात्मक होने की संभावना अधिक होती है। लेकिन जब मनुष्य की बनायी प्रतिसृष्टि में उस सृष्टि के विषयों के निमित्त संज्ञान के जो बंध उभर आते हैं उनके प्रारूप कुछ और ही होते हैं। वे बंध मनुष्य के ज्ञातृत्व के परे चलकर उसके भोक्तृत्व को समेट लेते हैं। क्योंकि उनका पर्यवसान मन को आह्लाद देने में होता है। और मनुष्य भोक्ता होने के कारण तथा उसके भोक्तृत्व को आधारभूत होनेवाले उसके संज्ञान के बंध भोगतृष्णा का शमन करते हैं, उसे आनंद देते हैं, उसे आस्वादक बनाते हैं। जब किसी वस्तु का आस्वादरूप में अनुभव किया जाता है तब वह न केवल भोग का विषय होती है बल्कि उसके आस्वाद्य होने में उसका 'मनोज्ञ' होना भी निहित होता है, उसका सुंदर होना आवश्यक होता है। और मनुष्य के संज्ञान का बंध किस तरह की अभिव्यक्ति में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रचा जाय, इस पर भी बहुत सारी बातें निर्भर करती हैं। मनुष्य का कर्ता होना, ज्ञाता होना तथा भोक्ता होना ये उसके संज्ञान के अलग-अलग बंधों के कारण होता है और बंधों का अलगपन उसकी अभिव्यक्तियों से निर्धारित होता है। अर्थात् मनुष्य का कर्ता होना न केवल उसके कर्तृत्वरूप संज्ञा का बंध है बल्कि उसका कर्ता होना यह संज्ञान तथा वह कर्ता है इस संज्ञान का संज्ञान इसको मिलाकर ही पूरा होता है। वही बात उसके ज्ञाता तथा भोक्ता होने के संदर्भ में लागू है। यह जो संज्ञान का संज्ञान है वही निर्णय में अभिव्यक्त होता है।

मनुष्य का निर्मातृत्व जब आस्वाद्य वस्तुओं का निर्माण करके प्रतिसृष्टि बनाता है तब उसका प्रयोजन आस्वादन तथा आस्वादन से प्राप्त आनंद होता है। मनुष्य-निर्मिति का यह एक अनोखा रूप है। मनुष्य की इस प्रतिसृष्टि के इस अंग को हम कला के नाम से पहचानते हैं। कला के रूप-आयाम तथा अनुबंध अनंत होते हैं। लेकिन उस हरेक रूप, आयाम तथा अनुबंध में मनोज्ञता पायी जाती है। कला के इन अनुबंधों का तथा उनमें पायी जानेवाली मनोज्ञता के विविध रूपों एवं बंधों का परिशीलन हम दर्शन के प्रांगण में करते हैं। इस दुनिया में विचरण करते हुए हम अनेकों सिद्धांत देख लेते हैं और मनुष्य की प्रतिसृष्टि से अच्छी तरह परिचित होते हैं। इस दुनिया में इस तरह विचरण करना भी हमें आनंद देता है। कला का विश्व ही मनुष्य की प्रतिसृष्टि है और अपनी प्रतिसृष्टि में मनुष्य आस्वादक भोक्ता है। प्राकृतिक सृष्टि में मनुष्य का ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता होना जरूरी पाया जाता है। लेकिन प्राकृतिक सृष्टि में जब मनुष्य भोक्ता होता है तब प्राकृतिक सृष्टि की वस्तुएँ उसके लिए केवल प्राकृतिक सृष्टि की वस्तुओं की हैसियत से न होकर आस्वाद्य विषय के रूप में होती हैं। मतलब, भोक्तृत्व के लिए प्राकृतिक सृष्टि भी केवल प्राकृतिक नहीं रह पाती, उस पर मनुष्य की निर्मातृता के कुछ संस्कार किये जाते हैं और तभी उसमें मनुष्य को भोक्ता बनाने के लिए आधारभूत होनेवाले संज्ञान के बंध उभरने लगते हैं। वस्तु-विषय का मनोज्ञ होने के बिना मनुष्य भोक्तृत्व की हैसियत से उससे पेश नहीं आ सकता। वस्तुविषय का ज्ञेय होना और मनोज्ञ होना-ये दोनों अलग बातें हैं और वे विश्व को बदल डालती हैं। वस्तुविषय का ज्ञेयरूप किसी एक अनुभूति की अवस्था तक ले जाता है। वस्तुविषय का मनोज्ञरूप भी किसी एक अनुभूति की अवस्था तक ले जाता है। कलारूप प्रतिसृष्टि के आयामों एवं अनुबंधों का परिशीलन करते हुए हमें मनुष्य तथा सृष्टि के कुछ महत्त्वपूर्ण सत्यों तक पहुँचना सुकर हो जाता है। निर्मातृत्व मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और उसके सहारे वह जीता है। उसी से कलानिर्मिति या कलाविश्व बनता है। कला उसके मन के भावों का आविष्करण है। वे भाव अनेकों रूपों से आविष्कृत होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति के, प्रकटीकरण के माध्यम भी अनेकों होते हैं। इससे ही हमें तरह-तरह की कलाएँ प्राप्त होती हैं और हमारा आस्वादन भी वैविध्य से संपन्न होता जाता है। कला मनुष्य का जीवन समझने के लिए साहाय्यभूत है। क्योंकि कला में मनुष्य के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जीवन की झाँकी सबसे अधिक मात्रा में मिल सकती है ।

कला को मनुष्य का निर्माण मानने पर भी हमें यह मान लेना चाहिए कि वह मनुष्य के अन्य निर्माणों जैसी नहीं होती है । कला का दर्जा प्रतिसृष्टि का होता है और उसमें हमेशा कोई-न-कोई अनोखापन अवश्य रहता है । कला मनुष्य के भावों की अभिव्यक्ति है । उसके भाव, विचार, कल्पनाएँ आदि उसकी अपनी रचनाएँ होती हैं, वह उसका अपना सृजन होता है । अपने इस सृजन को दूसरे तक पहुँचाने के लिए उसे मूर्त या साकार करना पड़ता है, फिर प्रस्तुत करना पड़ता है । कला मूर्त्तिकरण है मनुष्य के भावों का, जिन्हें वह दूसरे तक पहुँचाना चाहता है, प्रस्तुत करना चाहता है । कला मनुष्य के भाव औरों को बता देती है, भावों को आविष्कृत करती है । पेड़-पौंधे जैसी किसी वस्तु को समझना और कला के रूप में प्रस्तुत मनुष्य के भावों को समझना एक ही नहीं है । पेड़-पौंधे जैसी वस्तु को समझना यानी उसके यथार्थ रूप का ज्ञान प्रप्त करना है । यह ज्ञान मनुष्य के संज्ञान का एक बंध होता है । लेकिन कला से संप्रेषित मनुष्य के भावों को जानना यानी माध्यम से अभिव्यक्त कलावस्तु को देखना इतना ही वह जानना सीमित नहीं होता है । वस्तु का संज्ञान ने किया ग्रहण और भावों का, संज्ञान ने किया ग्रहण—इनमें बड़ा भेद है । जब भावों का ग्रहण होता है तब भावों को देखना नहीं बल्कि 'चखना' होता है, भावों का कलावस्तु के रूप में आस्वादन होता है। यह आस्वादन अर्थात् इन्द्रियों के माध्यम से होते हुए भी इंद्रिय उनका आस्वादन नहीं करते। जिस तरह ज्ञान-प्रक्रिया में इंद्रिय वस्तु ग्रहण के साधन होते हुए भी स्वयं वस्तु को ग्रहण नहीं करते बल्कि संज्ञान वस्तु का ग्रहण करता है, उसी तरह कला के संदर्भ में भी भावों का कलावस्तु के माध्यम से किया ग्रहण इंद्रियों के सहारे होता है । लेकिन संज्ञान ही उसका ग्रहण करता है । भावों का ग्रहण आस्वादनरूप होने के कारण मनुष्य में एक अभिवृत्ति पैदा करता है और आस्वादन पूर्ण होने के बाद मनुष्य को आनंद प्राप्त होता है। इस तरह का आस्वादन सिर्फ कलावस्तुओं का ही नहीं होता बल्कि कुछ प्राकृतिक सृष्टि की वस्तुओं का भी होता है । लेकिन जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, उस आस्वादन में वस्तुविषय केवल वस्तुविषय न रहकर आस्वाद्य भी बनता है और मन से उसका ग्रहण होने के कारण वह मनोज्ञ कहलाता है । प्राप्त विषय ज्ञेय है या मनोज्ञ है, इस बात का निर्णय मनुष्य पर ही निर्भर करता है । मनुष्य जब किसी विषय का आस्वाद्यरूप में ग्रहण करता है तब उसमें कुछ ऐसे धर्म जरूर होते हैं जिनके कारण आस्वादन संभव हो । इस तरह के धर्मों की प्रतीति के कारण विषय का आस्वाद्य होना कम से कम दो तरह से बताया जा सकता है । विषय में स्थित कोई ऐसा धर्म होता है वह विषय को आस्वाद्य बनाता है । वह धर्म मनुष्य की भोक्तृता को उत्तेजित या उद्दीपित करता है । इस तरह के धर्मों को प्रायः 'सुंदर' इस विशेषण से बताया जा सकता है । ये धर्म वस्तुविषय के प्रकाशक होते हैं और प्रकर्षेण वस्तु की आस्वाद्यता को बताते हैं । इस प्रकार को बताने के लिए जैसे हम 'सुंदर' इस विशेषण का उपयोग कर सकते हैं वैसे ही चारु, शोभा,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सुषमा, मञ्जु आदि विशेषणों का उपयोग कर सकते हैं। ये सभी वस्तु का धर्म उसके प्रकाशक के रूप में बतलाते हैं ताकि मनुष्य की भेक्तृता जागृत हो सके, उद्दीपित हो सके। लेकिन वस्तुविषय का आस्वाद्य होना केवल विषय में स्थित किसी धर्म पर निर्भर नहीं करता बल्कि उसका ग्रहण करनेवाले मनुष्य पर- मनुष्य की दृष्टि पर, क्षमता पर, अभिवृत्ति पर भी निर्भर करता है। इसका मतलब हुआ कि मनुष्य को भी उस विषय में आस्वाद्यता प्रतीत होनी चाहिए तभी वह उस विषय का आस्वादन कर पाएगा। इस बात को बताने के लिए सुंदर यह विशेषण सार्थ नहीं है। क्योंकि मनुष्य कि प्रतीति कि उसे उस वस्तु से आह्लाद या आनंद प्राप्त हो, उस वस्तु के धर्म पर उतनी निर्भर नहीं करती जितनी उसकी भोक्तृता की अभिवृत्ति पर करती है। उसे प्रतीति होनी चाहिए कि प्राप्त वस्तुविषय उसे आह्लाद दे पाए, प्रसन्न बनाए, तभी वह वस्तुविषय उसे प्यारा लग सकता है, वह उसकी कामना कर सकता है आस्वादन के लिए, भोग के लिए। मतलब यह हुआ कि वस्तु की अपेक्षा से वस्तु का प्रिय होना वस्तु को आस्वाद्य बना पाता है और प्रिय होने के लिए वस्तु में मनुष्य को सुखाने की, आह्लाद देने की, प्रसन्न बनाने की सामर्थ्य होनी चाहिए ताकि वह उस वस्तु के प्रति आकृष्ट हो उस वस्तु की कामना करे। इस तरह से देखने से वस्तुविषय का आस्वाद्यत्व बताया जा सकता है कान्त, रम्य, रमणीय, चारु, मनोहर, चेतोहर तथा मनोज्ञ आदि विशेषणों से। ये सभी विशेषण एक जैसे नहीं हैं, उनमें आपस में काफी भेद भी है। उनमें मनुष्य को आह्लाद देने की क्षमताएँ तथा प्रकार अलग-अलग हैं। आस्वाद्य विषय से प्राप्त आनंद जब विषय को साधनभूत मानकर मिलता है तब वहाँ रमणीयता की कल्पना होती है। वस्तुविषय वहाँ एक तरह से मनुष्य के साथ क्रीड़ा करता है, रमण करता है और मनुष्य को आनंद मिलता है। मनुष्य ऐसे विषय को रम्य या रमणीय कहेगा। जब वस्तुविषय लुभावना होता है तो उसके लुभावने होने के कारण मनुष्य उसकी कामना करता है, उसे चाहता है। मनुष्य का यह कामना करना या चाहना भी आनंदपर्यवसायी होता है। ऐसे वस्तुविषय को वह कांत, कमनीय कहता है। जब वस्तुविषय लुभावना होता है तब मनुष्य उसके प्रति आकृष्ट होता है, उस पर मुग्ध हो जाता है। वह मनुष्य को प्यारा लगता है। इस तरह के वस्तुविषय को 'चारु' इस विशेषण से बताया जा सकता है। ये सारे विशेषण मनुष्य की भोक्तृता को न केवल जाग्रत करते हैं बल्कि मनुष्य की भोक्तृता को प्रधान बनाते हैं। पहले वर्ग के विशेषण वस्तुविषय के पक्ष को प्रस्थापित करके विषय को महत्त्व देते हैं, मनुष्य को कम महत्त्व देते हैं। लेकिन इन सब विशेषणों में 'मनोज्ञ' यह विशेषण अलग ही है। हालाँकि यह विशेषण दूसरे वर्ग में आता है, यह मनुष्य की भोक्ता स्पष्ट कर देता है। लेकिन इससे भी वह बहुत कुछ बातें बताता। वस्तुविषय का ज्ञेय न होकर आस्वाद्य होना मन से ग्राह्य होना, इस बात को लेकर मन को तुष्ट करना, आह्लाद देना इस बात तक अनेक अर्थछटाएँ यह विशेषण उद्घाटित करता है। जिसकी मन से या मनुष्य से चाह की जाती है, वही मनोज्ञ हो सकता है, जो मन को प्यारा लगता है वही मनोज्ञ हो सकता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, जो मन को आह्लाद दे सकता है वही मनोज्ञ हो सकता है और जो मन से ही ग्राह्य है वही मनोज्ञ है । अतः मनोज्ञ इस विशेषण के प्रयोग से कलाविश्व को उसका अपना नियत स्थान प्राप्त होता है और ज्ञानविश्व से तथा प्राकृतिक सृष्टि से उसका अलगाव भी स्पष्ट हो जाता है । वस्तु को सुंदर कहने में मनुष्य की आस्वादन की भूमिका पर बल देने के बजाय वस्तु के आवाहक धर्म पर बल देना है । कलावस्तु को मनोज्ञ कहने से कलाविश्व में एवं मनुष्यनिर्मित प्रतिसृष्टि में होनेवाले मनुष्य के निर्मितिकर्तृत्व और भोक्तृत्व ये सबसे महत्त्वपूर्ण अंग स्पष्ट हो जाते हैं । मनोज्ञता वस्तुविषय का आस्वाद्यत्व बताती है, वस्तुविषय का ग्रहण बताती है, और आस्वाद्य का आस्वादन भी बताती है यानी कि मनुष्य का भोक्तृत्व प्रधान है, इस बात को निर्धारित करती है । किसी वस्तु को सुंदर कहने में उस वस्तु का कलावस्तु के रूप में एक आस्वादन की हैसियत से आस्थापन है । लेकिन किसी वस्तु को मनोज्ञ कहने से उस वस्तु का ग्रहण आस्वाद्य रूप में ग्रहण तथा ग्रहणोपरांत आनंद भी सूचित किया जाता है । रमणीयता वस्तु की भोगक्षमता पर अधिक जोर देती है, वह वस्तु के आस्वादन-भोग की झलक देती है । अतः कला के संदर्भ में जो वस्तुतः मनुष्य की निर्मातृता का क्षेत्र है, आस्वादन पक्ष की चर्चा करते हुए सौंदर्य इस विशेषण के बजाय मनोज्ञ इस विशेषण का प्रयोग समुचित होगा । जिस तरह कलाविश्व मनुष्य की बनायी सृष्टि है उसी तरह कलाआस्वादन भी मनुष्य-सृष्टि का ही एक अंग है । कलामीमांसा में इस पक्ष की ओर से विचार करना अधिक संयुक्तिक होगा क्योंकि सभी कलाव्यापार पुरुषतंत्र एवं पुरुषव्यापार-तंत्र हैं और मनोज्ञता ही इस पुरुषतंत्रता को ठीक तरह से स्पष्ट कर देती है । कला की मीमांसा सौंदर्य का पक्ष लेकर करने से कलामीमांसा का शास्त्र बनाने की प्रवृत्ति होती है क्योंकि सौंदर्य कलावस्तु के पक्ष पर बल देता है । लेकिन मनोज्ञता पक्ष लेने से कलामीमांसा को शास्त्र में परिणत कर देने की गलतफहमी से हम बच सकते हैं, क्योंकि मनोज्ञता कलाविश्व के मनुष्य के सिरे से मीमांसा करती है, मनुष्य को ही केंद्र-बिंदु में रखकर मीमांसा करती है ।

हमने ऊपर उल्लेख किया है कला के विभिन्न माध्यमों का । और हमने सांस्कृतिक क्षेत्र की ओर भी संकेत किया है । उन दोनों को साथ लेकर हमें कुछ बातों का विचार करना है । अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिए मनुष्य स्वयं अपने शरीर का उपयोग कर सकता है । मनुष्य संस्कृति के पहले चरण में यह बात दिखाई पड़ती है । नृत्य, अतिप्राचीन लेकिन काफी विकसित कलारूप है । नृत्य के सहारे नाटक भी आ जाता है। कला इन आविष्कारों में दृश्यरूप है । इसे मनुष्य की संस्कृति का बड़ा महत्त्वपूर्ण युग मानना चाहिए । लेकिन इससे अगले सोपान पर की हुई प्रगति मनुष्य जाति के इतिहास में क्रांतिकारक घटना माननी चाहिए । वह चरण है केवल शब्द के माध्यम से अतिसृष्टि की रचना करना, कला को आविष्कृत करना । अर्थात् कला का कोई भी रूप हो, हमें समझ लेना है उसका अनुबंध । उस अनुबंध को समझने से हम कला के रूप, कला के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पद्मबंध, सौंदर्य, सौंदर्यबंध, सौंदर्यरूप तथा मनोज्ञता आदि समझ पाएँगे। इसका विचार करना है कला के विविध रूपों में। संस्कृति के विकाससूत्र का यह भी एक सिरा होता है कि मनुष्य की अभिव्यक्ति के साधन अधिकाधिक अमूर्त होते जाते हैं ताकि कला की निर्मिति अधिक सूक्ष्म, अधिक नजाकतभरी तथा अधिक तरल होती जाए। इससे दूसरी भी एक बात संभव होती है कि मनुष्य अपनी निर्मिति से खुद को अलग रखकर स्वयं उसका आस्वाद कर सकता है। नृत्य या नाटक में मनुष्य स्वयं ही आविष्करण का साधन होता है, वह मानो कला का शरीर होता है। इस समय कला का स्वरूप दृश्य होता है। लेकिन आगे चलकर जब इसका परिष्कार होता है तब आविष्कार का माध्यम मनुष्य के शब्द होते हैं और उन शब्दों को लिखने के उपरांत मनुष्य उनसे पूर्णरूप से अलग हो जाता है। यहाँ अभिव्यक्ति का रूप दृश्य न होकर श्रव्य होता है। अभिव्यक्ति के इन दो रूपों में महत्त्वपूर्ण भेद है। इन दो रूपों की चर्चा करते हुए जो सिद्धांत हमें प्राप्त होते हैं, उनमें भी बड़ा भेद है। भरत मुनि का नाट्यशास्त्र अभिव्यक्ति के दृश्य रूप को लेकर कला एँव मनोज्ञता का विचार प्रस्तुत करता है। लेकिन आगे चलकर कला की अभिव्यक्ति का रूप श्रव्य बन गया, काव्य से कलाकार कलासृष्टि का निर्माण करने लगा। फिर भी भरत में प्राप्त कला के अनुबंधों का प्रयोग उसके बदले हुए माध्यम से प्राप्त रूप पर किया गया। इसी से कलाचिंतन में जैसे कुछ लाभ हुआ वैसे ही कुछ भ्रांतियों के कारण हानियाँ भी हुईं। भरत के रस-सिद्धांतादि का उपयोजन ठीक उसी तरह श्रव्यकला में भी कर दिया गया। दोनों में फलित एक न होते हुए भी वह एक ही होने की भ्रांति उत्पन्न हुई और उसी भ्रांति के आधार पर आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त आदि आलोचकों ने काव्यशास्त्र और कलानुबंधों की परिचर्चा में काफी उथल-पुथल कर दी। उसमें एक मुख्य भ्रांति यह थी कि भरत ने प्रस्थापित किये सिद्धांत मूलतः दृश्यकला के संबंध में थे, श्रव्यकला के संबंध में नहीं थे इस बात का विस्मरण हुआ। लेकिन उनके पहले इस तरह की भ्रांति नहीं दिखाई देती। क्योंकि रुद्रभट अपने शृंगारतिलक में कहते हैं:

"प्रायो नाट्यं प्रति प्रोक्ता भरताद्यैः रसस्थितिः।
यथामतिर्मयाप्येषा काव्यं प्रति निगद्यते ।।"

इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए हम कलामीमांसा के प्रांगण में कलानुबंध एवं मनोज्ञता का ठीक तरह से विचार कर सकते हैं। इस विषय की परिधि वैसे बड़ी विस्तृत है। यह विस्तार प्रस्तुत पुस्तक 'कला और मनोज्ञता' में दिखाई देता है। इस पुस्तक का विशेष है कि इस व्यापक परिधि को अच्छी तरह से आक्रमित करके विषय की गहनता एवं गंभीरता भी काफी गरिमा से परिपूर्ण है। प्रस्तुत पुस्तक के सात खंड हैं और इन सात खंडों से विषय को पूरा किया गया है। पहला खंड दर्शन के कुछ मौलिक सिद्धांतों की चर्चा करता है। दर्शन का साहित्य से क्या संबंध है तथा साहित्य में दर्शन का क्या योगदान है, इन प्रश्नों को मूल-रूप से उठाकर इस खंड की चर्चा शुरू

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होती है। मनुष्य के सारे व्यापार, क्रियाकलाप, उसकी बनायी सृष्टि इनका मूल स्रोत मनुष्य के संज्ञान में है। अतः संज्ञान का स्वरूप समझे बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते। इसी संज्ञान का एक परिणाम है मनुष्य-निर्मित शब्द-संसार। इस शब्द-संसार की आधारभूत होनेवाली भाषा एवं संप्रेषण का भी विचार करना आवश्यक है। संप्रेषण यह भाषा का प्रयोजन है और वह किसी न किसी अर्थ का संप्रेषण करती है। अतः इस अर्थ की समस्या का तात्त्विक परिशीलन भी क्रमप्राप्त हो जाता है।

दार्शनिक दृष्टि और दर्शन में उठायी समस्याएँ इनका कोई अंत नहीं होगा। दर्शन की समस्याओं को जब कोई ठोस संदर्भ मिलता है तब वे अन्य ज्ञानशाखाओं को उपकारक होकर दर्शन को भी प्रगल्भ बनाती हैं। दर्शन में सबसे महत्त्वपूर्ण बात है दृष्टि। इस दृष्टि के अनुसार समस्याओं का अनुशीलन करने से अन्य ज्ञानशाखाओं की परिष्कृति और वृद्धि होती जाती है। साहित्य, काव्य, कला- ये ऐसे संदर्भ हैं जिनमें दार्शनिक दृष्टि का बड़ा भारी योगदान संभव है। दार्शनिक दृष्टि न केवल अन्य ज्ञानशाखाओं को अधिक स्पष्ट तथा परिष्कृत करती है बल्कि उनमें उठायी समस्याओं का हल भी सुझाती है। दर्शन का योगदान समस्याओं को ठीक तरह आँकने तथा समझने में है। इसलिए प्राप्त विषय का अंकन तथा आलेखन- ये बातें महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। दर्शन न केवल स्वयं ही दृष्टि है बल्कि वह अन्य ज्ञानशाखाओं को उनके विकास तथा वृद्धि की दृष्टि देता है। केवल दर्शन से किसी ज्ञानशाखा के दार्शनिक चिंतन तक पहुँचने की यात्रा वैसे लंबी नहीं है, लेकिन दिलचस्प जरूर है। इसी यात्रा को पार करके हम कला के स्वरूप की चर्चा तक आ पहुंचते हैं।

साहित्य, काव्य, कला इनके संदर्भों का एक विशेष है। अन्य सभी ज्ञानशाखाओं की तरह ये भी मनुष्य के क्रियाकलाप के फल होते हुए इनमें निहित मनुष्यनिर्मातृत्व कुछ अलग तरह का होता है। कला या काव्य स्वयं ही अपने में एक पूर्ण सृष्टि है, प्रति-सृष्टि है और उसका निर्माता है मनुष्य। अतः काव्य-कला के संदर्भ में कलानुबंधों का परिशीलन करते हुए हमें इस बात का सूत्र पकड़कर आगे चलना है। कला मनुष्य की रची सृष्टि है, वह मनुष्य को लुभाती है, मनुष्य को आनंद देती है। इस सृष्टि का उपादान कारण उस कला का माध्यम है जिसे हम कला की भाषा के रूप में पहचान पाते हैं। कला को उसके माध्यम के विना-उसकी भाषा के विना-सोचा नहीं जा सकता। काव्य-कला के तात्त्विक परिशीलन का आधार उसकी भाषा होती है। उस भाषा को लेकर ही काव्य-कला के स्वरूप के बारे में चर्चा हो पाती है और उससे पायी जानेवाली समस्याओं का हल सुझाया जा सकता है।

अगर हम कला को उसकी भाषा के बिना सोच नहीं पाते, तो सवाल उठता है, कला बनती है कैसे? इस सवाल का हल अर्थात् उसकी भाषा का सूत्र पकड़ने से मिलता है। लेकिन इस प्रश्न की गहरी सतह में कुछ और ही गहन समस्याएँ छिपी हैं। उनको भी दिखाना और उनका हल सुझाना हमारा कर्तव्य है। जिस भाषा के माध्यम से कला

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अभिव्यक्त होती है उस अभिव्यक्ति की विधा का परिशीलन हमारी मदद कर सकता है। इसी विधा के फलस्वरूप हमें कला के पद्मबंध के स्वरूप का ज्ञान हो पाता है। कला के पद्मबंध का विचार सौंदर्यमीमांसा के लिए सबसे मूलभूत सिद्धांत है। दार्शनिक चिंतन का एक मूलाधार है संकल्पना एवं पद्मबंधों की खोज में प्राप्त संदर्भ का आलेखन करना। इसी बात का स्वतंत्ररूप से विचार करके उसे फिर काव्य, नृत्य, तथा कला के संदर्भ में उठाया गया है। कलारूप का निश्चयन करने के लिए उसके पद्मबंधों को देखना बड़ा महत्त्वपूर्ण और उतना ही अनोखा काम इस पुस्तक में सौंदर्यमीमांसा के इतिहास में पहली ही बार किया हुआ मिलता है। इसके लिए आधार लिया है पद्मबंध की संकल्पना के विश्लेषण का। यह विश्लेषण संकल्पना और पद्मबंध इसके बारे में बहुत सारे सिद्धांत प्रस्थापित करता जाता है और उसके आधार पर कला के संदर्भ में पद्मबंध का विचार प्रस्तुत किया गया है।

इस कला की मीमांसा उसके 'सौंदर्य' या 'मनोज्ञता' इस अंग को लेकर आगे बढ़ायी जाती है। इस मीमांसा के स्वरूप की तथा व्यवस्था की चर्चा भी क्रमप्राप्त हो जाती है। इस संदर्भ में प्रस्तुत पुस्तक में एक स्वतंत्र खंड है जो सौंदर्यमीमांसा का स्वरूप समझाते हुए उसके प्रयोजन तथा उसके शास्त्र होने या न होने की चर्चा करता है। प्रस्तुत पुस्तक में पक्ष लिया है कि सौंदर्यमीमांसा का शास्त्र नहीं बन सकता और इस संदर्भ में सौंदर्यमीमांसा का स्वरूप स्पष्ट किया है। सांस्कृतिक परिवेश के बदल जाने से कलामीमांसा या सौंदर्यमीमांसा के बारे में क्या फर्क पड़ता है इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न की चर्चा भी इसी खंड में पायी जाती है। मार्क्सवाद की विचारधारा के अंतर्गत जो कला, साहित्य आदि का निर्माण हुआ उसकी मीमांसा का प्रकार क्या भिन्न है? सांस्कृतिक परिवेश का इस तरह की मीमांसा में क्या योगदान है? आदि प्रश्नों को उठाकर इस खंडके अंतिम लेख में साहित्य और मनुष्य-जीवन के संबंध पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। कला या साहित्य समाज में ही पनपता है और इसलिए उसे सामाजिकता के आयामों से कभी वर्जित नहीं किया जा सकता। इस पक्ष को लेकर चर्चा आगे बढ़ती है।

अब सवाल आता है स्वयं सुंदरता का। हम किसी कलावस्तु को देखकर सुंदर, रमणीय, मनोज्ञ आदि निर्णयों से अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। ये निर्णय भाषा में विधान के रूप में होते हैं। ये विधान मूल्यात्मक होते हैं और सुंदर आदि को मूल्य माना जाता है। इन मूल्यों का तथा मूल्यात्मक विधानों का तात्त्विक एवं तार्किक विवेचन करके अगला खंड सुंदर की संकल्पना का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इस संदर्भ में किया सामान्यता, आवश्यकता, नियम, विधि, निदेश, आदि महत्त्वपूर्ण संकल्पनाओं का विश्लेषण इस खंड को अधिक ही संपन्न तथा गहन बनाता है।

अगले खंड में भरत मुनि के नाट्यशास्त्र को आधारभूत मानकर रसविषयक सिद्धांतो की बड़ी विस्तृत चर्चा प्रस्तुत की गई है। इसमें इस सिद्धांत का सांगोपांग विचार किया गया है। इस संदर्भ में आनेवाली अनेकों संकल्पनाओं का विश्लेषण करके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नाट्यशास्त्र के संदर्भ में उनका विशदीकरण किया गया है । यह खंड भी सौंदर्यमीमांसा के इतिहास में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाना चाहिए, क्योंकि पिछली अनेक सदियों से प्रचलित अनेकों भ्रांतियों को पहली बार इन लेखों में स्पष्ट करके उनका खंडन कर दिया है और भरतप्रणीत रससिद्धांत का स्वरूप समझाया हैं ।

भरत के बाद नाट्य का प्रभाव कम होते-होते काव्य का उदय हुआ । भरत के प्रस्थापित किये सिद्धांतो को आगे चलकर काव्य में उपयोजित करने की कोशिश हुई । इस प्रयत्न को समझने के लिए नाट्य का रस और काव्य का अर्थ इनका संबंध पहले समझ लेना चाहिए । उसे समझाकर भरत-मुनि की काव्य-शास्त्र के बारे में होनेवाली भूमिका को देखकर वामन के सिद्धांतों का एवं काव्यबिंब का विवरण इस पुस्तक के अंतिम खंड में किया गया है ।

प्रस्तुत पुस्तक के सात खंड सात सोपानों जैसे हैं जो हमें कला और मनोज्ञता का स्वरूप पूर्ण-रूप से समझाने के लिए समर्थ बताते हैं । दर्शन से लेकर काव्यशास्त्र तक सभी महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों का विवरण इस पुस्तक में दिया गया है, अतः कलामीमांसा एवं सौदर्यमीमांसा में इस पुस्तक का स्थान अवश्य ही असाधारण मानना उचित होगा। अंत में केवल हम इतना ही कहते हैं कि कला और मनोज्ञता की यह सप्तखंडात्मक परिचर्चा सचमुच ही बड़ी कलापूर्ण एवं मनोज्ञ हुई है । आशा है कि इस विषय के अध्येताओं को इस पुस्तक से बडा लाभ हो ।

दर्शन-विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे ४११ ००७

सुभाषचन्द्र भेलके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिंदी)

(त्रैमासिक पत्रिका)

दर्शन एवं साहित्य पर वैचारिक चिंतन प्रस्तुत करनेवाली पत्रिका दर्शन, साहित्यशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान के अध्यापक, संशोधक, छात्र एवं प्रेमी पढते हैं ।

विज्ञापन की दरें

१/८ डिमाई साईज	एक अंक के लिए रु.	चार अंको के लिए रु.
१/४ पृष्ठ	१२०/-	४२०/-
१/२ पृष्ठ	२००/-	७००/-
पूर्ण पृष्ठ	४००/-	१४००/-
कव्हर पृष्ठ.३	६००/-	२१००/-
कव्हर पृष्ठ.४	८००/-	२८००/-

आप आपकी संस्था / प्रकाशन / उत्पादन का 'परामर्श (हिं)' में विज्ञापन देकर पत्रिका की मदत कर सकते हैं ।

विज्ञापन की प्रति एवं शुल्क मनीऑर्डर या बँक ड्राफ्ट से निम्नंकित पते पर भेजें -

प्रधान संपादक,
परामर्श (हिंदी)
दर्शन-विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे ४११००७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रो. सुरेन्द्र बारलिंगेजी के नीति-दर्शन का सारग्रहण

अपने दार्शनिक जीवन में प्रो. बारलिंगेजी ने अनेक तरह की दार्शनिक धारणाओं को अपने चिंतन में उठाया। दर्शन के प्रति उन का जो रुख रहा वह उन की अपनी जीवन-पद्धति से मेल खाता था। दर्शन में स्वीकृत धारणाओं के लिए प्रमाण प्रस्तुत करना और भारतीय अध्यात्मिक परंपरा को सुनिश्चित करना यही उन का उद्दिष्ट हमेशा के लिए रह चुका है। दर्शन के ऐसे अन्य अनेक क्षेत्र हैं जिन में प्रो. बारलिंगे जी का विपुल योगदान रहा है। लेकिन उन के नीति-दर्शन के इस संक्षिप्त विचार में उन को समाविष्ट करने में मैं असमर्थ हूँ। भारतीय परंपरा में विकसित नैतिक संकल्पनाओं का ब्यौरा तथा नैतिक समस्याओं को सुलझाने की विधा पर मैं अपना ध्यान केंद्रित करना चाहूँगी, क्योंकि, मेरी दृष्टि में उन के विचार की यही मौलिक विशेषता है। अतः प्रो. बारलिंगेजी के भारतीय नीति-दर्शन में प्रयुक्त संकल्पनाओं को नैतिक मद्दों के संदर्भ में तथा सामाजिक सद्वस्तु के परिवेश में प्रस्तुत करना मेरा उद्देश्य है। प्राचीन भारतीय सद्गुणों तथा मूल्यों के प्रारूपों के उपायोजन से प्रो. बारलिंगे जी नैतिक समस्याओं का समाधान किस तरह करना चाहते हैं इस बात को भी मैं स्पष्ट करना चाहूँगी। प्राचीन भारतीय नैतिक भूमिका से सहमति प्रकट करते हुए प्रो. बारलिंगे जी अपनी नैतिक भूमिका स्थापित करते हैं। उन का नीतिविषयक दृष्टिकोन हमेशा उपयोगितावादी रहा है, क्योंकि उन का विश्वास है कि लोगों का ईप्सित क्या है और अपने उद्दिष्टों की पूर्ति कैसे की जा सकती है इन बातों का नीति में जिक्र किया जाता है। न्याय तथा सत्य की खोज जैसे सनातन मूल्यों की रक्षा में भी वे रुचि लेते हैं। प्रो. बारलिंगेजी के लेखन में दुःख, तृष्णा जैसी भारतीय परिवेश की संकल्पनाओं का भी जिक्र आता है और दार्शनिक दृष्टिकोन से वे मौलिक मानवीय भावनात्मक संकल्पनाओं का विवेचन करते हैं। लेकिन मैं अपने को उनके नीति-दर्शन तक ही सीमित रखना चाहती हूँ।

-१-

भारतीय नीति-मीमांसा के अपने ग्रंथ में प्रो.बारलिंगेजी सांप्रतीय मानवी उद्दिष्टों की व्यवस्था में निहित नैतिक सद्गुणों एवं मूल्यों की कल्पना को चुनौती देते हैं। न्याय, स्वतंत्रता और सत्य जैसे सद्गुणों एवं मूल्यों को वे सामाजिक सत्ता के रूप में रूपांतरित करते हैं, क्योंकि यह सारा का सारा प्रपंच मानवीय है। 'मॉरल' (moral) इस शब्द का व्युत्पत्यर्थ रूढि (custom) है यह बताकर वे अपने विवेचन का आरंभ करते हैं। रूढि तो मानवीय व्यवहारों की नियमितता है ; वह व्यक्ति से नहीं, बल्कि अपने में स्वतंत्र होते हुए भी एक साथ सब मिलकर एक सामुदायिकता को जन्म देनेवाले समाज से जुडी होती है। किसी भी नैतिक समस्या पर गौर करते हुए दूसरों से संबंधित व्यक्ति के व्यवहार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का विचार करना पडता है । वर्तन-बंध का विचार करते समय हमें व्यक्ति का आचार, प्राथमिकता, चयन, मूल्य, आदर्श इन को देखना पड़ता है । कभी कभी नीतिवेत्ता पारंपरिक रूढि को लाँघ कर व्यक्ति के आचार में परिवर्तन होने से नयी परंपरा स्थापित करते हैं । उदाहरणार्थ, नीति-मीमांसा के दायरे में सत् की कल्पना का मतलब होता है वरीयता और शुभ की कल्पना; भले ही सत् का शब्दशः अर्थ अस्तित्व में होना ही क्यों न हो, उस का उपयोग भारतीय नीति परंपरा में सद्गुण के अर्थ में किया गया है । इस तरह प्रो. बारलिंगेजी पतंजली, पाणिनी तथा व्याडि इन की रचनाओं के आधार पर अपने नीतिविषयक विवेचन का आरंभ करते हैं । उन क्रियापदों के विश्लेषण से वे शुरुआत करते हैं जो आज्ञा, कर्तव्य, क्रियास्वातंत्र्य, बिनती, क्षमता, अपरिहार्यता जैसी क्रियाओं का निर्देश करते हैं । प्रो. बारलिंगेजी विशेष रूप से यह बताते हैं कि इच्छा तथा (दूसरे को) ऋण की भावना (से देने की वृत्ति) के मेल-जोल से नैतिक सिद्धांत पैदा होता है । इसके लिए वे 'भव्य' (भविष्यत् में होनेवाला) तथा 'कर्तव्य' जिस का मतलब है 'क्यों' यह सवाल किये बिना कर्म करना, 'कर्तव्य' इन पर्यायी पदों का प्रयोग करते हैं। वे मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टिकोन से भी कृति की विविध वृत्तियाँ तथा अभिवृत्तियाँ दर्शाते हैं । मानवी कृति हमेशा सामाजिक घटकों से सीमित रहती है और परिणामतः दूसरों के कारण इर्दगिर्द के वातावरण से उस की स्वतंत्रता मर्यादित होती हैं, जिसे 'ऋण' से बताया जाता है । 'ऋण' का अर्थ है कर्ज । जिस धातु से 'ऋत' शब्द बना है उसी से 'ऋण' शब्द बना है । प्रो. बारलिंगेजी ऋण का अर्थ कर्तव्य (obligation) लगाते हैं जो कांट के नीति-दर्शन में पाया जाता है । वे स्पष्ट करते हैं कि 'owe' इस क्रिया का भूतकालीन रूप 'ought' होता है । अतः 'ought' से ऋण सूचित होता है । वे उसे सोदाहरण स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि दूसरों को समा लेने के लिए जब कोई अपनी स्वतंत्रता से समझौता करता है तब नैतिक मूल्य का प्रश्न उठता है । ऐसी हालत में इच्छा और ईप्सित में जो अंतर है वह कृति के लिए नैतिक विषय बनता है । प्रो. बारलिंगेजी बताते हैं कि संबंधित कृति की पार्श्वभूमि पर इच्छा और ईप्सित में भेद करना जरूरी है और नैतिक सिद्धान्तों को मूलतः इच्छाबोधक क्रियारूप की पार्श्वभूमि होती है । आगे चलकर वे इच्छा और ईप्सित में भेद बताते हैं जिस से नीतिमीमांसा का कर्तव्यमूलक सिद्धान्त बनाया जाता है । वे दो उदाहरण प्रस्तुत करते हैं : (१) 'आप को यह (काम) अवश्य करना चाहिए', (२) 'मुझे यह (काम) अवश्य करना चाहिए' और दिखाते हैं कि पहले से व्यवस्था या बहिःसामर्थ्य सूचित होता है तो दूसरे में आंतरिक ऊर्मि है । दूसरे उदाहरण को प्रो. बारलिंगेजी चोदना कहते हैं । चोदना 'मुझे यह अवश्य ही करना है' इस रूप की प्रेरणा है, जिसमें स्वतंत्र अभिव्यक्ति है । चोदना अपनी आंतरिक ऊर्मि क कारण क्रियाप्रवर्त्तक होती है जो कोई कृति करने की मनोवैज्ञानिक प्रेरणा है और वही 'कर्तव्य' में रूपांतरित होती है । अगर यह ऊर्मि स्वयं की ओर लक्षित की जाती है तब

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वह 'काम' होती है और अन्य की ओर लक्षित की जाने से 'धर्म' होती है। काम का अर्थ है इच्छा, उसे धर्म के अनुकूल होना चाहिए जो पुरुषार्थ की चरमावस्था 'मोक्ष' तक पहुँचाता है। मोक्ष भव्य है, जो अभी तक प्राप्त नहीं है। यह ऋण की अभिव्यक्ति है। इस तरह पुरुषार्थ-प्राप्ति में चोदना ओर ऋण का योगदान होता है। ऋण अन्यों की ओर लक्षित करता है। यह आंतरिक ऊर्मि कर्मकांड में विकसित होती है। कर्तव्य की भावना भी ऋण की कल्पना से ही बनती है और इस तरह कर्तव्य की संकल्पना विकसित होती है।

प्रो. बारलिंगेजी नैतिक कृति में निहित विविध अवस्थाओं को उचित नैतिक संकल्पनाओं से स्पष्ट कर देते हैं। चोदना और कर्तव्य से क्रिया किस तरह प्राप्त होती है, धर्म किस तरह अन्य नैतिक कल्पनाओं पर हावी रहता है और किस तरह धर्म, ऋत और विधि एक दूसरे से संलग्न होते हैं इस को वे स्पष्ट करते हैं। इन में धर्म व्यापक है क्योंकि उस में श्रेयस् तथा ऋत जैसी नीति-नियम सूचक कल्पनाएँ समाहित हैं। नैतिक एवं धार्मिक आचार प्रणाली को धर्म सूचित करता है, अतः वह व्यापक है। धर्म, ऋण और विधि के क्रम में ऋत तार्किक संकल्पना है जो धर्म की भूमिका स्पष्ट करती है और ऋत मनुष्य के उस कर्तव्य को बताता है जिस से वह धर्मानुसारी और ऋतानुसारी हो। जब किसी आज्ञा का पालन करना होता है न कि उस के बारे में कोई सवाल उठाया जाता है तब वह विधि कहलाता है। इसे व्याकरण की दृष्टि से प्रो. बारलिंगेजी प्रयासपूर्वक स्पष्ट करते हुए लोट् लिङ्, जैसे प्रत्यय (३.३.१७२) बता कर उन का अर्थ 'ईप्सित' (३.३.१५७) है यह बताते हैं। कृत्य से क्रियारूप, काल जैसे आज्ञा, स्वतंत्रता, व्यवस्था आदि सूचित किये जाते हैं।

प्रो. बारलिंगेजी चोदना के संदर्भ में विधि की कल्पना भी स्पष्ट करते हैं जिस का मतलब कर्म की प्रेरणा तथा भूत, वर्तमान, भविष्यत् का संज्ञान है। प्रभाकर ने चोदना का प्रयोग केवल वैदिक वचनों तक ही किस तरह सीमित रूप से किया है इसे भी वे स्पष्ट करते हैं। अब सवाल यह उठता है कि वेदों के कौन से वचन व्यवस्थादि अर्थ सूचित करते हैं ? इसे स्पष्ट करने के लिए प्रो. बारलिंगेजी अभिधा, लिङ्, भावना इन संकल्पनाओं को प्रस्तुत करते हैं। भावना का इच्छाशक्ति से संबंध होता है और वह व्यक्ति की इच्छा में ही परिवर्त्तित होती है। प्रभाकर के अनुसार विधि से आज्ञा सूचित होती है। इसे नियोग कहते हैं और यह कार्य का अभिव्यक्त रूप है। लेकिन मंडनमिश्र का कहना है कि ईप्सित उद्दिष्ट को प्राप्त ही करना विधि का प्रयोजन है। विधि के अर्थ पर नैयायिकों के मत का भी प्रो. बारलिंगेजी उल्लेख करते हैं। नैयायिक मानते हैं कि विधिवाक्य में आदेश होता है और उस में चोदना निहित होती है। उत्तरवर्त्ती नैयायिक विधि को वह क्रिया मानते हैं जो ईप्सित उद्दिष्ट की पूर्ति करता है या उद्दिष्टपुर्ति में समर्थ होता है। इस तरह विधि को इष्टसाधनता माना गया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

- २ -

इस तरह चोदना का विवेचन प्रस्तुत करने के उपरांत प्रो. बारलिंगेजी मंत्र काल में पाये जानेवाली सत्य, ऋत, अनृत तथा धर्म जैसी नैतिक संकल्पनाओं पर अपना ध्यान केंद्रित करते हैं। सत्य और ऋत को वे एकसाथ लेते हैं जिस में सत्य का अर्थ है वस्तु जिस की सत्ता है और ऋत वह है जो होने की प्रक्रिया में सत्ता के गत्यात्मक रूप में पाया जाता है। ऋत की गति में नियमितता होने के कारण उसे नियम या वैश्विक व्यवस्था भी समझा जाता है। इस शब्द का विभिन्न संदर्भों में अलग अलग अर्थों से प्रयोग किया है, जैसा कि विश्व की स्थिति के कारण विष्णु के अर्थ में भी वह प्रयुक्त है। ऋत में केवल स्थैर्य का अभाव होता है जो सत्य का विशेष धर्म है। सत्य विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है जो ऋत है। लेकिन आगे चलकर ऋत की कल्पना संकुचित होकर उसे प्राकृतिक व्यवस्था माना जाने लगा।

शंकराचार्य के अध्यासभाष्य का संदर्भ देते हुए प्रो. बारलिंगेजी सत्य और अनृत में भेद दिखलाते हैं। लोकव्यवहार में तथा व्यावहारिकी सत्ता में सत्य और अनृत का मिथुन होता है और वहीं समस्त मानवी समस्याओं का उद्गम है। सत्ता की इस कल्पना के विपरीत ऊपरी स्तर पर पारमार्थिकी सत्ता है और पुरुषार्थ की कल्पना परमार्थ की कल्पना से संलग्न रूप में उभरती है। इस तरह, नीतिपूर्ण समाज-व्यवस्था के लिए प्रो. बारलिंगेजी सत्य, ऋत, अनृत जैसी नैतिक संकल्पनाओं का सुसंगत ढाँचा दिखाते हैं, क्योंकि सहजीवन के नियमित संबंधों से ही समाज में व्यवस्था पैदा होती है। सहजीवन की कल्पना का मनुष्य की स्वतंत्रता से संबंध है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए प्रो. बारलिंगेजी धर्म की कल्पना को सामाजिक नीति-व्यवस्था के अर्थ में लेते हैं।

उन की दृष्टि से धर्म मनुष्य के प्रकृति तथा परिवेश के साथ होनेवाले संबंध को स्पष्ट करता है। मनुष्य के समाज का सदस्य होने में ही धर्म की प्रस्तुतता है। इस शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है, लेकिन नीति के संदर्भ में उस का प्रयोग मानवी जीवन के उद्दिष्ट के अर्थ में किया है। नैतिक संदर्भ में धर्म अभ्युदय तथा निःश्रेयस् इन दो संकल्पनाओं को सूचित करता है। अभ्युदय का अर्थ है समृद्धि या उपलब्धि और निःश्रेयस् चरमोद्देश्य है। अतः प्रो. बारलिंगेजी बताते हैं कि धर्म का संबंध सामाजिक गतिविधियों से-विशेषकर मनुष्य की उन्नति से-है और अभ्युदय का प्रयोजन केवल मनुष्य के सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से होने वाले हित से है। अभ्युदय का संबंध मूलतः मेरी समृद्धि से है और अन्य लोगों की, शासनसंस्था की समृद्धिसे उसका संबंध है। अभ्युदय के लिए दो व्यक्तियों का होना जरूरी है और जब दो व्यक्ति साथ मिलते हैं तब उन में या तो सहकार होता है या संघर्ष। यहाँ पुरुषतंत्र जगत् का व्यक्ति-हित का तथा सामुदायिक हित का प्रश्न आता है। प्रो. बारलिंगेजी यहाँ अद्वैतियों के बताये सत्ता-स्तरों को सूचित करते हैं। अभ्युदय की संकल्पना पुरुषतंत्र जगत् में प्रयुक्त होती है। अतः प्रो. बारलिंगेजी बताते हैं कि अभ्युदय की कल्पना स्वर्ग की कल्पना का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निवारण करती है क्योंकि व्यावहारिक व्यवस्था के अर्थ में समझा गया धर्म तथा पुनर्जन्म इन में विसंगति दिखाई देती है। पुनर्जन्म की अवधारणा को बनाए रखने के लिए दार्शनिक आत्मा के अमरत्व को स्थापित करते हैं ; तथा आत्मा का अमरत्व तथा कर्मफल को स्थापित करने के लिए बिना कोई तार्किक आधार के सूक्ष्म देह या कारणदेह की मान्यता निर्धारित करते हैं। अद्वैत के अज्ञान के सिद्धांत का दाखिला देते हुए प्रो. बारलिंगेजी इस समस्या का समाधान दिखाते हुए बताते हैं कि अद्वैत का यह सिद्धांत कर्मबंध से मुक्ति दिलाने में सहायता करता है। अद्वैत की ज्ञान-मीमांसा के अनुसार यथार्थ ज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति होकर मुक्ति पायी जा सकती है जिसे मोक्ष या निःश्रेयस् कहते हैं। इस प्रक्रिया में अभ्युदय तथा निःश्रेयस् एक दूसरे से विरोधी न होते हुए अभ्युदय के धर्मनियंत्रित होने के कारण वह उसे अंतिमोद्देश्य तक पहुँचाता है।

अब तक हमने देखा कि किस तरह प्रो. बारलिंगेजी सामाजिक घटनाओं के संदर्भ में भारतीय नैतिक संकल्पनाओं को स्पष्ट करते हैं। उन के अनुसार कर्म के गृहीततत्त्व हैं - (१) मानवी कर्म किसी कारण से नियंत्रित है, (२) कारण-परंपरा मनुष्य की स्वतंत्रता से निर्धारित है, और (३) अच्छे कर्म पुरस्कृत होते हैं। ये तत्त्व समाज-रचना का निर्धारण करते है। कर्म सिद्धांत के साथ जब पुनर्जन्म तथा मृत्यूपरांत जीवन की कल्पना जोड दी जाती है तब असत् एवं निरर्थक विश्वासों की मालिका पैदा होती है। अतः प्रो. बारलिंगेजी की धारणा है कि मनुष्य जगत् के मानवीय मूल्य कभी सत् से विसंगत नहीं होते हैं ; वस्तुतंत्र कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है ; और इस संबंध को जानने के लिए संज्ञातता होनी जरूरी है। ऋण, ऋत, भव्य, धर्म जैसी संकल्पनाओं को समझाते हुए वे इस तरह से भारतीय नीतिमीमांसा की समस्या स्पष्ट करते हैं। लेकिन बहुत सी नैतिक समस्याएँ ऐसी हैं जो अभ्युदय की कल्पना से जुडी हैं। यहाँ पर प्रो. बारलिगेजी श्रेयस् और प्रेयस् के बीच भेद बनाने की कठिनाइयाँ दिखाते हैं, क्योंकि " ought " और " is " के बीच का संबंध भारतीय नीतिविदों के लिए अभीष्ट है। अतः वे निःश्रेयस् की संकल्पना चरम मूल्य के रूप में स्वीकृत करते हैं।

नैतिक विषयों की इस चर्चा में प्रो. बारलिंगेजी व्यक्तिविशेषीकरण की समस्या को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। वे कहते हैं, " व्यक्ति और जगत् के संबंध को जानना याने वैश्विक दृष्टिकोण को व्यक्तिगत दृष्टिकोण पर प्रत्यारोपित करना भारतीय नीति-मीमांसा का प्रश्न है।[१] " यह प्रश्न किस तरह निर्माण किया है और किस तरह इस से छुटकारा पाया जा सकता है इस को बताने की वे कोशिश करते हैं। इस संदर्भ में शिशु की चेतना किस तरह स्वतंत्र रूप से विकसित होती है इसे वे स्पष्ट करते हैं। वे सोचते हैं कि चेतना के शरीर से भिन्न होने की भावना के कारण ही स्वतंत्रता की भावना जाग

---

१. A Modern Introduction to Indian Ethics, S.S.Barlingay, Penman Publisher, New Delhi, 1998.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उठती है । चेतना का शरीर से यह बिछुडना बढता जाता है और इस तरह हर मनुष्य एक स्वतंत्र व्यक्ति की हैसियत से अपने को स्वतंत्र विश्व बनाकर रहता है जिस से पुरुषतंत्र जगत् में 'सामाजिकता' का प्रश्न पैदा होता है । लेकिन वस्तुतंत्र और पुरुषतंत्र ये दोनों सत्ताएँ एक दूसरे से असंबद्ध नहीं हैं यह भी समझना चाहिए । मनुष्य के लिए स्वाभाविक है कि वह सोचे कि इस विश्व का वही एकमात्र सदस्य है, वह उसी का है और इसी से आसक्ति वृद्धिंगत होते हुए स्वनिर्मित स्वार्थीभावना में परिणत होती है । अतः प्रो. बारलिंगेजी बुद्ध तथा शंकर जैसे महानुभावों की तरह इस "अहंता" के याने व्यक्तिविशेषीकरण के विलय की सोचते हैं । भारतीय नीति-विचार के आदर्श को मानवी जगत् की अनेकता की विपदा सें मुक्त करना था; मुक्ति आधारभूत संकल्पना थी जो जीवन का चरमोद्देश्य था और हर व्यक्ति को उसे पाना था । मुक्त पुरुष अपने स्वार्थी स्वभाव को नष्ट करता है, अपनी संपत्ति की कल्पना त्याग देता है और अपने को वस्तुतंत्र जगत् में समा देता है । उसे पता चलता है कि वह अंशी का अंश होने के कारण अपने को वस्तुतंत्र जगत् से अलग नहीं कर पाता, अंशी को छोड अंश का स्वतंत्र अस्तित्व बन नहीं पाता । इस तरह प्रो. बारलिंगेजी अद्वैत के आत्मा-परमात्मा-मीलन का विचार प्रस्तुत करते हुए मोक्ष को सर्वश्रेष्ठ मूल्य बताकर व्यक्तिविशेषीकरण की समस्या का हल ढूँढते हैं ।

- ३ -

परिचर्चा के समारोप में हमें जहाँ से हम निकल पडे थे वहाँ वापस लौटना है । मेरा दावा था कि - प्रो. बारलिंगेजी के भारतीय विचार-परंपरा के अध्यात्मवादी युक्तिवाद को हम नकार नहीं सकते और दूसरा मेरा दावा था उपयुक्तावाद का जो मैंने उन के भारतीय नैतिक विश्लेषण के आधार पर किया था । उन की विचारधारा की इन दो विशेषताओं के परिणामस्वरूप हमें भारतीय नीति-मीमांसा में एक नया दृष्टिकोण देखने को मिलता है । उन्हों ने अच्छी तरह से आदर्शी (normative) नीतिविचार का नीतिमीमांसा (meta-ethics) के साथ मेल किया है । महत्त्वपूर्ण नैतिक पदों का वैयाकरणियों के दिये नियमों के अनुसार व्युत्पत्यर्थ देकर वे अपने नीति-विचार का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं । कभी कभी वे सामाजिक-सत्ता के संदर्भ में भारतीय नीति-कल्पनाओं का विवरण देते हैं । मुझे लगता है कि समकालीन नैतिक समस्याओं का अद्वैत के व्यावहारिकी तथा पारमार्थिकी सत्ता के दृष्टिकोन से किया विवेचन भारतीय अध्यात्मवाद की विशुद्ध अभिव्यक्ति है । भारतीय नैतिक जीवन की यशस्वी पूर्त्ति में बाधा डालनेवाले सभी संभाव्य तत्त्वों को उन्हों ने हटा दिया है । मनुष्य जीवन का वस्तुकेंद्री विश्व से उद्भव होता है और पुरुषकेंद्री जगत् में वह पलता है और अंततः अपने स्रोत में समा जाता है जो कि मनुष्य जीवन की चरम उपलब्धि है और मोक्ष के नाम से जानी जाती है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रो. बारलिंगेजी भारतीय नीतिमीमांसा की अपनी पुस्तक में जिस तरह समापित करते हैं उसी तरह मैं उन के नीतिविषयक विचारों की प्रमुख विशेषताओं को निम्नांकित करना चाहूँगी -

१ भारतीय नीति-विचार अपने विकास के प्रदीर्घ कालावधि में अपनी प्रगति के तहत सामाजिक जीवन में की गयी विविधता, यशस्विता तथा स्थैर्य को बनाए रखता है ।

२. अपने उगम की दृष्टि से सद्गुण सामाजिक दिखाई देते हैं क्यों कि व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में वे सफलता एवं स्थिरता प्राप्त करानेवाले गुणों सें उत्पन्न होते हैं ।

३. सामाजिक मूल्य जब किसी तत्त्वों के आधार पर रचे जाते हैं और स्थापित किये जाते हैं तब सामाजिक सद्गुण नैतिक सद्गुणों में विकसित होते हैं ।

४. नैतिक सद्गुण धार्मिक बनते हैं ; जब मानवता अपनी मर्यादाओं को लाँघती है तब सद्गुणों का आशय केवल नैतिक नहीं बल्कि धार्मिक भी होता है । इस तरह की मूल्यदर्शी विचारधारा में आदर्श मनुष्य की कल्पना ही नीति का आशय बनती है ।

५. समाज की प्रगति और सरल व्यवहारों के लिए इस तरह के आदर्श मानव को स्वीकारा जाता है । भारतीय परंपरा में सामाजिक प्रगति याने समृद्धि और आनंद के बिना व्यक्ति की प्रगति अधूरी मानी गयी है । समाज में व्यवस्था होती है और हर व्यक्ति की कोई भूमिका निर्धारित की जाती है । उन भूमिकाओं से हमें आदर्श गुणों का पता चलता है और वे नियामक होते हैं । इस तरह नैतिकता व्यक्ति को समाज का सदस्य होने के नाते आदर्श प्रदान करती है। मनुष्य जीवन के सर्वोच्च उद्दिष्ट को तभी पाया जा सकता है जब नियमों के अनुसार निष्ठा के साथ कर्तव्यों का पालन किया जाए । ये नैतिक सद्गुण धार्मिक बन जाते हैं क्यों कि अध्यात्मिक जीवन के लिए उन का होना जरूरी होता है ।

६. ये नैतिक सद्गुण सार्वत्रिक एवं अपरिहार्य होते हैं क्यों कि वे मानवजाति के सर्वसाधारण कल्याण एवं आनंद के लिए होते हैं ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

७. अंत में, प्रो. बारलिंगेजी खेद व्यक्त करते हैं कि समता के सामाजिक या नैतिक सिद्धान्त को मूल्य के रूप में स्वीकृत नहीं किया गया है , हालाँकि वीरता, करूणा आदि को मूल्य माना गया है । विषमता को बढावा दिये जाने से सामाजिक सुविधा के रूप में असमता बढती जाती है । अतः प्रो. बारलिंगेजी का सुझाव है कि नैतिक तत्त्वों का बिना कोई ढील दिये नैतिक तत्त्वों के रूप में ही आचरण किया जाना चाहिए ।

इस तरह मैं प्रो. बारलिंगेजी के भारतीय नैतिक समस्याओं तथा संकल्पनाओं के विचारों को सूत्रबद्ध करना चाहती हूँ ।

३०, सत्यनगर,
भुवनेश्वर - ७५१००७

डॉ. तप्ती मैत्र

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रो. बारलिंगे जी की जगत् की अवधारणा

प्रो. बारलिंगे जी ने अपने दार्शनिक चिंतन के अंतर्गत ' जगत् की अवधारणा ' का स्वतंत्र रूप से विकास तो नहीं किया है परंतु उन्होंने अन्य जगह की समस्याओं को समझने के प्रयास में ' जगत् ' को भी दार्शनिक तल पर समझने का प्रयास किया है। मनुष्य अपनी जीवनधारा के अंतर्गत जो जगत् निर्माण करता है, जिसको हम संस्कृति कहते हैं । यह मनुष्यनिर्मित जगत् प्रो. बारलिंगे जी के जगत् की अवधारणा का मुख्य आधार है। प्रो. बारलिंगे जी ' जगत् ' को दो भागों में बाँटते हैं, एक मनुष्यकेंद्रित जगत् और दूसरा विश्वकेंद्रित जगत् । प्रो. बारलिंगे जी की 'जगत् की अवधारणा ' क्या थी, वे ' जगत् ' को मानवी संस्कृति के अंतर्गत किस प्रकार समझते हैं, इन प्रश्नों को हमें जो संदर्भ उनकी चिंतन की धारा में मिलते हैं, उनके आधार पर समझने का प्रयत्न करेंगे।

प्रो. बारलिंगे जी की ' जगत् की अवधारणा ' को समझने के पूर्व उनकी दर्शन की अवधारणा क्या थी, यह समझना महत्त्वपूर्ण है । उनके लिये दर्शन का अर्थ कुछ करना है । वे दर्शन को मनुष्यता के बाहर जाकर नहीं सोचते हैं । उनके लिये दर्शन मनुष्य की संस्कृति का एक अंग है । और उसका संबंध समाजविज्ञान तथा नीतिशास्त्र से भी है । इस पृष्ठभूमि पर उनकी जगत् की अवधारणा का विकास हुआ है । वह विकास, मनुष्य जिस जगत् का निर्माण करता है, उससे संबंधित है, या मनुष्यकेंद्रित जगत् से संबंधित है । उनकी जगत् की अवधारणा मनुष्य की खोज से उत्पन्न हुआ है । पश्चिम के चिंतक जिस तल पर जाकर ' जगत् ' को समझते हैं या उनका जगत् सत्य की खोज की प्रक्रिया में उत्पन्न होता है, उस प्रकार जगत् की अवधारणा प्रो. बारलिंगे जी के दर्शन के अंतर्गत उत्पन्न नहीं होती है । उनकी जगत् की अवधारणा मनुष्य की संकृति का एक अंग है । और मनुष्य ने जिस जगत् का निर्माण किया है, उसके आधार पर ही उन्होंने जगत् की अवधारणा की नींव रखी है ।

मनुष्य जिन धारणाओं को लेकर ' जगत् ' को समझने का प्रयास करता है, वे धारणाएँ इस प्रकार हैं । जगत् का अस्तित्व स्वयं-सिद्ध है, जगत् को हमने ज्ञान का साधन बनाया या नहीं बनाया तो भी उसके अस्तित्व में और उसके स्वरूप में कुछ फर्क नहीं पडता। मनुष्य के ज्ञान पर उसका अस्तित्व निर्भर नहीं करता है । जगत् ही मनुष्य के ज्ञान का साधन है । उनके लिये जगत् का अस्तित्व सनातन है, जैसे उसका अस्तित्व भूत में या, वैसा ही वर्तमान में है, और भविष्यत् में भी रहेगा । मनुष्य की संस्कृति में समय के अनुसार जैसे बदलाव आते हैं वैसे बदलाव जगत् के स्वरूप में नहीं आते । इस तरह वे जगत् को एक दुर्घटना नहीं मानते हैं । वे मनुष्य और जगत् के संबंध के बारे में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुछ कहते हैं, मनुष्य इस जगत् का एक अंश है। मनुष्य के स्वभाव के कुछ नियम जगत् की प्रकृति से आते हैं। अगर हम इस संबंध को जान सकें , तो हम ऐसा कहेंगे कि मनुष्य अंश है, तो जगत् अंशी है। अनुभव और धारणा की प्रक्रिया से मनुष्य जगत् को जानने की कोशिश करता है। मनुष्य जगत् के व्यापारों को जानने की क्षमता रखता है। जगत् के पास मनुष्य को जानने की कोई भी संभावना नहीं है। इस जानने की प्रक्रिया को प्रो. बारलिंगे जी कहते हैं कि जगत् का एक अंश दूसरे अंश को जानता है तो एक प्रकार से मनुष्य विज्ञान, कला और दर्शन की प्रक्रियाओं का केंद्र है। इसीलिए वे दर्शन को मूलतः मानव-केंद्रित मानते हैं। क्योंकि वह विश्वकेंद्रित जगत् की ओर निर्देश करता है, या उसकी उत्पत्ति से संबंधित है, यह क्रिया मनुष्य इस जगत् का केंद्र है, इसकी ओर संकेत करती है। इसके साथ ही मनुष्य जगत् को जानने तक ही सीमित नहीं रखता वह इस जगत् में अपना एक नया जगत् निर्माण करता है और वह जगत् उसका सृजन होता है। मनुष्य जिस जगत् का निर्माण करता है, उसको वह दूसरे जगत् पर आरोपित करता ह परंतु दोनों जगत् मूलतः भिन्न हैं। उन भेदों को देखा तो जा सकता है परंतु पृथक् नहीं किया जा सकता। इस रचना और आकलन का मुख्य साधन है, मनुष्य की चेतना। उसको आत्म-चेतना भी कह सकते हैं। इस आत्म-चेतना को अलग करके हम मनुष्य के कार्यों को समझ नहीं सकेंगे, क्योंकि चेतना के आधार पर वह अपने जगत् का सृजन करने में सक्षम होता है। वह विज्ञान, संस्कृति, सभ्यता तथा कला का सृजन करता है। यह उसका सृजनात्मक जगत् होता है। उसको हम मनुष्य-केंद्रित जगत् भी कह सकते हैं। परंतु वैज्ञानिक जिस दृष्टि से जगत् को देखता है, उसकी जैविक स्थिति में, उस दृष्टि में एक दार्शनिक नहीं देख सकता। वह उसके अंशों को अलग कर के देखता है, पहचानता है, निर्णय करता है। इस प्रक्रिया में वह पदार्थ की मर्यादाओं को जानता है। परंतु वह उन सीमाओं पर ही नहीं रुक जाता, वह जगत् का विश्लेषण करके, एक नये जगत् के नवनिर्माण के काम में लग जाता है। यहाँ प्रो. बारलिंगे जी जगत् को जानने की दार्शनिक पद्धति और वैज्ञानिक पद्धति से परिचित हैं और वैज्ञानिक मर्यादाओं को पहचानते हैं। परंतु वे जगत् को समझने के लिये वैज्ञानिक पद्धति का आधार तो लेते हैं, परंतु उसका पुनर्निर्माण करने के लिये वे उस दृष्टि के पार जाने की हिम्मत रखते हैं।

प्रो. बारलिंगे जी की जगत् की अवधारणा मनुष्य जिस जगत् का निर्माण करता है, उससे संबंधित है। जो जगत् हमें धरोहर में मिला है, उसके संबंध में वे ज्यादा तो नहीं बोलते, परंतु मनुष्य जिस जगत् का सृजन करता है उसके माध्यम से वे जगत् को समझते हैं। वे मनुष्य और जगत् के संबंधों का विश्लेषण अनुभव और धारणा के तत्त्व पर जाकर करते हैं। इसके आधार पर मनुष्य समाज तथा नीति का निर्माण करता है। प्रो. बारलिंगे जी ने अपने 'One World' नामक लेख में जगत् का विचार किया है। परंतु इस लेख में उनका उद्देश्य तो अलग है। वे मनुष्य और जगत् के संदर्भ में 'सर्वोदय'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की अवधारणा को समझना चाहते हैं । परंतु इस लेख के आरंभ में उन्होंने जगत् का विश्लेषण किया है, उसके आधार पर हम उनकी जगत् की अवधारणा को समझने का प्रयत्न करेंगे । इस लेख के आरंभ में वे दो जगतों की कल्पना करते हैं । एक को वे ब्रह्मांड समझते हैं और दूसरे को वे सामाजिक समझते हैं । ब्रह्मांड की संकल्पना पूर्णतः वस्तुमात्र है । और इस संकल्पना के अनुसार जगत् को ब्रह्मांड-केंद्रित जगत् कह सकते हैं । सामान्य मनुष्य के लिये उसका शहर या देश भी सामान्य अर्थ में उसका जगत् हो सकता है । प्रो. बारलिंगे इसको भौगोलिक जगत् कहते हैं । और यह अवधारणा ब्रह्मांड-केंद्रित जगत् की एक कृति होती है । इस जगत् की रचना मनुष्य की कल्पना से होती है । सामान्य मनुष्य की यह श्रद्धा होती है कि वह रहे या न रहे लेकिन धरती जैसी थी वैसी ही भविष्य में भी रहेगी । मनुष्य की किसी भी कृति से जगत् के मूल स्वरूप में कुछ भी फर्क नहीं पडता है ।

ब्रह्मांड-केंद्रित जगत् की अवधारणा के बाद प्रो. बारलिंगे जी मानव-केंद्रित जगत् के संबंध में कहते हैं । वे कहते हैं कि जगत् की सामाजिक अवधारणा, ब्रह्मांड तथा भौगोलिक-केंद्रित जगत् की अवधारणा से उत्पन्न होती है । इसको वे मनुष्य-केंद्रित जगत् कहते हैं । इस जगत् के अंतर्गत मनुष्य की कौनसी क्रियाएँ तथा कृतियाँ आती हैं इस बारें में प्रो. बारलिंगे स्पष्ट करते हैं कि इसमें सामाजिक संघटन, मनुष्य की संस्कृति, मनुष्य के मनसे निर्माण हुआ सौंदर्य, शिल्परचना, वैज्ञानिक खोज, आकाश को चूमनेवाले भवन, औद्योगिक प्रगति, वस्तुओं के नाम, मनुष्य के नाम, यह सब मनुष्य-केंद्रित जगत् की अवधारणा के कारण है । हमारी स्वयं की पहचान भी नाम देने की क्रिया से शुरू होती है । हम अपना जगत् निर्माण करने के साथ ही उसको ब्रह्मांड-केंद्रित जगत् पर भी आरोपित करते रहते हैं ।

इन दो धारणाओं का अंतर्गत संबंध होने के कारण उनको अलग नहीं किया जा सकता । मनुष्य इस जगत् का अंश होने के कारण उसका जगत् भी इस जगत् की व्यवस्था के अंतर्गत आता है । मनुष्य जो भी सृजन करेगा वह इस जगत् का भाग होगा। जब हम जगत् के बारें में बोलते हैं तो हमारा उद्देश्य 'मनुष्य का जगत्' होता है। मनुष्य की ज्ञान की वृद्धि के साथ ही उसकी जगत् को समझने की दृष्टि विकसित होती है । वह मनुष्य-केंद्रित जगत् को ब्रह्मांड-केंद्रित जगत् के उपर आरोपित करता है । यह विकास-प्रक्रिया दो जगतों में एक प्रकार का संबंध प्रस्थापित करती है ।

ब्रह्मांड-केंद्रित जगत् के मूल-स्वरूप में कुछ भी रूपांतरण नहीं होता है । मनुष्य जिस जगत् का निर्माण करता है, उसका अर्थ और हेतु उसके लिये कुछ अलग होता है, जो प्राणि या आदिमानव के लिये कुछ भी नहीं होंगे । इसका अर्थ यह है कि मूल्य, अर्थ या हेतु मनुष्य के द्वारा निश्चित किये जाते हैं । और इसका अर्थ, एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ संबंध हैं उसके द्वारा निश्चित होता है । जगत् में जो भी है मनुष्य और मनुष्य से है । इस प्रकार मनुष्य अपने जगत् की रचना करता है और सामाजिक तथा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

राजकीय तल पर उसको आकार देता है । और उसका निर्माण कभी कभी राज्य, देश इत्यादि में भी करता है । इस प्रकार मनुष्य अपने जगत् का निर्माण निरंतर करता रहता है और उसका आरोपण भी ब्रह्मांड-केंद्रित जगत् पर करता रहता है ।

प्रो. बारलिंगे जी ब्रह्मांड-केंद्रित जगत् और मनुष्य-केंद्रित जगत् में भेद तो करते हैं परंतु उसको अलग नहीं करते हैं । क्योंकि वे मानते हैं कि मनुष्य-केंद्रित जगत् ब्रह्मांड-केंद्रित जगत् की व्यवस्था का एक भाग है ।

आज तक दर्शन के इतिहास में जगत् को तर्क के आधार पर समझने का प्रयास किया है । अंततः वह प्रयास तर्क की मर्यादाओं के पार नहीं जा सका । लेकिन प्रो. बारलिंगे जी जगत् को समझने की प्रक्रिया में द्वंद्ववाद की ओर जाते हैं । परंतु उनके लिये जगत् को समझने का वही एकमात्र साधन है । इस प्रकार उनके दर्शन के अंतर्गत प्रो. बारलिंगे जी ने जगत् की अवधारणा का विकास किया है ।

शोध-छात्र राजेन्द्र खटावे
दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे - ४११००७.

■

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रंथ समीक्षा

Barlingay S.S., Reunderstanding Indian Philosophy, D.K. Printworld (p) Ltd., New Delhi-15, 1998, pp. 371, Rs. 480/-

बीसवीं शती में भारतीय दर्शन पर बहुत कुछ लिखा गया है और लिखा जा रहा है। इस शताब्दि के उत्तरार्ध में कुछ ऐसे ग्रंथ प्रकाशित हुये हैं जिन में भारतीय दर्शन केवल प्रस्तुत ही नहीं किया है, बल्कि उसे किसी एक दृष्टि से समझा तथा परखा गया है। भारतीय दर्शन का संस्कृतेतर भाषा में लिखा जाना भारतीय प्राच्यविद्या याने Indology के प्रचलन से प्रचुर हुआ। इस से भारतीय दर्शन का युरोपिय भाषाओं में भी प्रस्तुतीकरण हुआ जिससे भारतीय दर्शन की एक विशेष समझ स्थापित हुई। जैसे जैसे भारतीय दर्शनों के मूल स्रोत से अध्ययन करनेवाले विद्वानों ने युरोपिय भाषाओं में प्रस्तुत भारतीय दर्शन को देखा और समझा, वैसे उस समझ के विरोध में एक लहर पैदा हुई। काफी अर्से तक यह लहर दुर्बल रही और आज भी उस में उतना बल नहीं है जितना होना चाहिए। इस लहर को बनाने में तथा बलशाली करने में जिन महानुभावों का योगदान रहा है उन में अग्रगण्य नाम रहा है प्रो. सुरेन्द्र बारलिंगेजी का। दर्शन की विभिन्न शाखोपशाखाओं में अत्यधिक कार्यशील रहे प्रो. बारलिंगेजी अपने जीवन में शुरू से अंततक भारतीय दर्शन का अध्ययन, अध्यापन तथा संशोधन एक नये सिरे से तथा नयी दृष्टि से करते रहे। युरोपीय विद्वानों तथा उनका अनुसरण करनेवाले भारतीय विद्वानों के भारतीय दर्शन के अध्ययन तथा अर्थान्तरण को देखकर उन के मन में यह प्रबल इच्छा पैदा हुई की भारतीय दर्शन का सही अन्वयार्थ प्रस्तुत करना भारतीय विद्वानों का एक महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्त्व है। इसी उत्तरदायित्त्व को लेकर उन्होंने भारतीय दर्शन के विविध आचार्यों, सिद्धान्तों, प्रणालियों तथा समस्याओं पर अपने अध्ययन से प्राप्त स्वतंत्र दृष्टि से बहुत कुछ लिखा। उन के उस लेखन के कुछ चुने हुए लेख लेकर प्रस्तुत ग्रंथ बनाया गया है।

हालाँकि प्रो. बारलिंगेजी कहते हैं कि दर्शन अपने में न भारतीय होता है न पाश्चिमात्य, बल्कि दर्शन केवल दर्शन होता है जिस में सत्-तत्त्व तथा मनुष्य-जीवन की मौलिक समस्याओं का गहन चिंतन किया जाता है, फिर भी किसी भी परंपरा में पनपा दार्शनिक चिंतन उस परंपरा के परिवेश में ही अच्छी तरह से समझा जाता है। इस दृष्टि से वे भारतीय चिंतन-प्रणाली के विभिन्न विचारधाराओं को उनके मूल ग्रंथों के आधार पर सही मायने में प्रस्तुत करना चाहते हैं। सांस्कृतिक भिन्नता के कारण परंपरागत चिंतन समझने में गलतफहमियाँ संभव हैं। अतः उन्हें ठीक तरह से समझना और समझाना एक दार्शनिक जिम्मेदारी है, जिसे लेखक प्रस्तुत ग्रंथ में सफलता से निभा रहे हैं। किसी भी प्रस्थापित विचार या व्यवस्था को अगर नये सिरे से परखना है, अगर उस की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आलोचना करनी है या उसे नकारना भी है तब संदेहवादी भूमिका लेकर उसे पूर्वपक्ष बनाना समुचित होता है, क्यों कि उस पर उत्तरपक्ष के रूप में अपने सिद्धांतों की स्थापना की जा सकती है। इस पुस्तक में लेखक ने यही रूख अपनाया है। वैसे तो भारतीय चिंतन-प्रणाली में अनेक मोड आये हैं, जिन में आधुनिक संदेहवादी भूमिका से कुछ सिद्धांतों के अन्वयार्थ का निषेध किया है। यह बगावती प्रवृत्ति इस परंपरा में काफी अर्से से रही है। लेखक इसी प्रवृत्ति को अपना कर अपने जीवनभर दर्शन का परिशीलन करते रहे, जिस में उन का प्रमुख दावा रह चुका है कि उन का स्थापित अन्वयार्थ समुचित एवं सही है। लेखक के इस आत्मविश्वास के लिए आधार है उन का संस्कृत भाषा तथा संस्कृत में लिखे दार्शनिक ग्रंथों का अध्ययन तथा आधुनिक पाश्चिमात्य परंपरा में पाश्चिमात्य दर्शन तथा पद्धतियों का किया विवेचक संपादन। इन दोनों विधाओं से उनका दार्शनिक व्यक्तिमत्त्व संपन्न होने के कारण भारतीय दार्शनिक चिंतन का स्वतंत्ररूप से अन्वयार्थ प्रस्थापित करने में उन्हें विशेष आत्मबल प्राप्त था। समाज में हमेशा कोई न कोई दार्शनिक विचार अनुस्यूत रहते हैं। उन का परिशीलन तथा समीक्षा यह किसी भी दार्शनिक या तत्त्ववेत्ता का महत्त्वपूर्ण कर्तव्य होता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए प्रो. बारलिंगेजी ने भारतीय समाज-मन को प्रभावित करनेवाले अद्वैत-वेदांत-दर्शन की मूलग्राही समीक्षा करते हुए अपने दार्शनिक जीवन में पदार्पण किया। अपने जीवन के आरंभिक अर्से में उन्हों ने 'मायावाद' पर एक शोध निबंध लिखा था। जिस में उन्हों ने अपने उद्देश्यों को स्पष्ट किया था। इसी सूत्र को आगे चला कर वेदान्त-दर्शन पर उन्हों ने बहुत कुछ लेखन किया। उस में से कुछ महत्त्वपूर्ण लेख इस ग्रंथ में लिये गये हैं। मायावाद का विवेचन करनेवाले लेख के साथ ही गौडपाद का दर्शन, वेदविधानों पर शंकराचार्य की भूमिका और विवेकानंद का व्यावहारिक वेदांत इस पर वे लेख हैं।

हमारी विशाल एवं गरिमामय दार्शनिक परंपरा में बौद्ध तथा जैन दर्शन का बडा योगदान रहा है। इन पर भी प्रो. बारलिंगेजी ने बहुत संशोधन किया है। उन में से कुछ लेख प्रस्तुत ग्रंथ में समाविष्ट हैं। जैनमत तथा बौद्धमत की वैचारिक पृष्ठभूमि पर लिखे अपने लेख में वे दिखाते हैं कि इस भूमि में वेदांत, जैनमत तथा बौद्धमत इन का बहुत प्रभाव रहा है और उन में हमेशा संबंध रह चुका है। इस का विशेष कारण यह रह चुका है कि ये तीनों पूर्व-मीमांसा दर्शन में विकसित सिद्धान्तों पर अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करते हुए अपने दर्शन के सिद्धान्त स्थापित करते जाते हैं। बौद्ध दर्शन में कुछ ऐसे मूलभूत सिद्धान्त हैं जो पूरे मानवी जीवन तथा मानवी समाज को आमूलाग्र बदल सकते हैं। उन में कुछ हैं दुःख, तृष्णा तथा वैर। इन का विवेचन प्रो. बारलिंगेजी ने 'धम्मपद' के आधार पर किया है। बौद्धमत के परिवर्तन-सिद्धान्त का विवेचन करनेवाला भी एक निबंध है। मार्क्सवाद से विशेष प्रचलित हुई द्वन्द्वात्मक पद्धति का रूप भी वे बौद्ध-दर्शन में देखते हैं और उसे अपने एक शोध-निबंध में प्रस्तुत करते हैं। बौद्धमत का आगे चलकर जो विकास हुआ उस में उसका तर्कशास्त्र या न्यायशास्त्र, ज्ञानशास्त्र आदि में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रूख रहा । उस में जो मूलभूत सिद्धांत हैं - प्रतीत्यसमुत्पाद, सामान्यलक्षण तथा अपोह इनका विवेचन उन के एक लेख में सांगोपांग किया गया है । उसी तरह जैन दर्शन के जीव-अजीव संबंधी सिद्धांतों का विवेचन करने के साथ ही वे कुंदकुंदाचार्य के दार्शनिक तत्त्व भी स्वतंत्र लेख में उद्घाटित करते हैं ।

न्यायशास्त्र में प्रो. बारलिंगेजी की विद्वत्ता विशेष प्रस्थापित थी । न्यायशास्त्र पर उन्होंने स्वतंत्ररूप से एक पुस्तक भी लिखी है जिस का स्वीकार तथा सन्मान देश-विदेश के विद्वानों तथा विश्वविद्यालयों ने आदर के साथ किया है । न्यायशास्त्र की परिधि में आनेवाले कुछ मौलिक निबंध इस ग्रंथ में समाविष्ट हैं ।उस में पर्याप्ति संबंध पर एक लेख है और तर्क की संकल्पना विशद करनेवाला लेख है जिस के बारे में विद्वानों में काफी बहस भी रह चुकी थी । न्याय दर्शन के तर्क का तथा ज्ञानमीमांसा का स्वरूप विशद करनेवाले लेख के साथ ही न्यायशास्त्र में पाये जानेवाले नैगमनिक सूत्रों का विवेचन करनेवाला भी लेख है ।

भारतीय नीति-विचार पर भी उन की एक स्वतंत्र पुस्तक है । लेकिन बहुत पहले उन्होंने नैतिक संकल्पनाओं के उद्गम तथा रचना पर अपना मूलगामी चिंतन व्यक्त करनेवाला एक लेख लिखा था जो प्रस्तुत ग्रंथ में लिया गया है । यह लेख भी भारतीय तत्त्वचिंतन को नयी दिशा दिखाता है । उसी तरह भारतीय व्याकरण - परंपरा में पाये जानेवाले विधानार्थों के बारे में विकसित सिद्धांतों का विवेचन करनेवाला एक लेख इस संग्रह में है ।

इस ग्रंथ में प्रो. बारलिंगेजी के दार्शनिक व्यक्तित्व की खासियत उघाडनेवाले कुछ और लेख भी हैं । भारतीय आदर्शवादी परंपरा की खोज वे करते रहे । इस प्रयास में उन्हें जो सूत्र मिलें उन पर लिखा एक निबंध है । हिंदुत्व या हिंदु-परंपरा का केंद्र-बिंदु जिस विचार-धारा में ग्रथित किया जा सकता है उस का विशेष विवेचन देते हुए वे इस परंपरा में उत्क्रांत हुई चार अवस्थाओं का वर्णन करते हैं । दर्शन का प्रयोजन हमें अपना तथा अपने समाज का स्वरूप ठीक तरह से पहचानकर अपने जीवन को सुधारना और संपन्न बनाना है । इस कार्य को प्रो. बारलिंगेजी ने यशस्विता से पूर्ण किया है । इस बात का साक्षी उन का हिंदुधर्म पर लिखा यह शोध-निबंध है ।

भारतीय दर्शन-परंपरा को क्यों और कैसे नये सिरे से समझा जा सकता है इस का विस्तृत विवेचन करनेवाले निबंध से इस ग्रंथ का आरंभ होता है । इस निबंध में प्रो. बारलिंगेजी विविध भारतीय दर्शनों के मूलाधार तथा गृहीतक इन की समीक्षा करते हैं। इन में सांख्य-दर्शन का विशेष विस्तृत विवेचन है । उस के बाद वेदान्त-दर्शन के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का विश्लेषण वे करते हैं। सांख्य-दर्शन की महत्त्वपूर्ण संकल्पनाओं का विश्लेषण दूसरे अध्याय में भी किया गया है । इन सिद्धांतों एवं संकल्पनाओं से किस तरह समाज के मूल विश्वास धर्म, संस्कृति तथा दर्शन में विकसित होते जाते हैं, इसका विश्लेषण उन के तीसरे अध्याय में प्रस्तुत है । इस लेख में हम विशेष रूप से पूर्व मीमांसाविषयक उन के चिंतन को समझ सकते हैं । इस ग्रंथ के अंतिम लेख में अत्यंत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संक्षेप में वे भारतीय दार्शनिक परंपरा का मानो विहंगमावलोकन प्रस्तुत करते हैं, जिस में आधुनिक काल के विश्वविद्यालयीन दार्शनिकों के महत्त्वपूर्ण योगदान का मूल्यांकन है। उस के साथ वे हमें यह भी बताते हैं कि आगे चलकर भविष्यत् में भारतीय परिवेश में दर्शन के विकास के रुख क्या और कैसे हों। प्राप्त चुनौतियों को मद्देनजर रखते हुए किया उन का विवेचन नयी पीढी को उचित मार्गदर्शन करता नजर आता है।

प्रस्तुत ग्रंथ प्रो. बारलिंगेजी के दार्शनिक व्यक्तित्व का परिचायक माना जा सकता है। स्वतंत्र एवं नये रुख से दर्शन को समझना और हमारे वर्तमान की समस्याओं को सुलझाने के हेतु उन का उपायोजन करना इस भूमिका का मूर्त्त रूप इस ग्रंथ में पाया जाता है। उन की पैनी दार्शनिक दृष्टि संकल्पना तथा सिद्धांतों का मूलगामी विश्लेषण करती है और उन का सर्जनशील रुख इस दर्शन का अर्थ ढूँढता हुआ नजर आता है। इस दार्शनिक चिंतन को उन्हों ने बडी सरल, सुगम तथा सीधी-सादी भाषाशैली में प्रस्तुत किया है। इस तरह की विशेषता दर्शन के क्षेत्र में दुष्प्राप्य है। इस ग्रंथ में दर्शन के अध्येताओं के लिए नयी दृष्टि तथा संशोधन के नये रुख मिलते हैं। इस ग्रंथ में ऐसे अनेकों विषय हैं जिन्हें विशाल प्रकल्प रूपों में विकसित किया जा सकता है। दर्शन के विद्यार्थी, अध्यापक, संशोधक तथा सर्वसामान्य विचारवंतों के लिए यह ग्रंथ विशेष प्रेरणादायी और मार्गदर्शक रहेगा। ग्रंथ के अंत में दी शब्दसूचि इस ग्रंथ के संशोधन-मूल्य को परिवर्द्धित करती है। हमें आशा है, इस ग्रंथ का पाठकगण जरूर स्वागत करेंगे और उस के अध्ययन से विशेष लाभान्वित रहेंगे।

वैशाली खांडेकर

दर्शन विभाग,
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे - ४११००७.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिंदी)

(त्रैमासिक पत्रिका)

दर्शन एवं साहित्य पर वैचारिक चिंतन प्रस्तुत करनेवाली पत्रिका दर्शन, साहित्यशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान के अध्यापक, संशोधक, छात्र एवं प्रेमी पढते हैं ।

विज्ञापन की दरें

१/८ डिमाई साईज	एक अंक के लिए रु.	चार अंको के लिए रु.
१/४ पृष्ठ	१२०/-	४२०/-
१/२ पृष्ठ	२००/-	७००/-
पूर्ण पृष्ठ	४००/-	१४००/-
कव्हर पृष्ठ.३	६००/-	२१००/-
कव्हर पृष्ठ.४	८००/-	२८००/-

आप आपकी संस्था / प्रकाशन / उत्पादन का 'परामर्श (हिं)' में विज्ञापन देकर पत्रिका की मदत कर सकते हैं ।

विज्ञापन की प्रति एवं शुल्क मनीऑर्डर या बँक ड्राफ्ट से निम्नंकित पते पर भेजें -

प्रधान संपादक,
परामर्श (हिंदी)
दर्शन-विभाग
पुणें विश्वविद्यालय,
पुणे ४११००७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें। लेख प्रायः ३००० शब्दों से अधिक न हो । लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है । इस में विशुद्ध चिंतपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी।
- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।
- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं । यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं ।
- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व अधिकार पत्रिका का होगा ।
- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुनः प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचंद्र भेलके ने यह त्रैमासिक पौर्णिमा एन्टरप्राईझेस, धनकवडी, पुणे ४११ ०४३ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी) खंड २० अंक १ दिसं. ९८- फेब्रु.९९

प्रो. बारलिंगे की दार्शनिक मान्यताएँ	:	डॉ. छाया राय	१
प्रो.सुरेन्द्र बारलिंगे : दार्शनिक लेख संसार	:	डॉ. सुभाषचंद्र भेलके	७
कला और दार्शनिक चिंतन	:	डॉ. रंजन घोष	१७
दिवंगत बारलिंगेजी द्वारा आनंद-कला-काव्य-रस-सौंदर्य की विवेचना	:	डॉ. पृथ्वीनाथ शास्त्री	२५
सौंदर्यशास्त्रविषयक लेखों का परिचय	:	डॉ. सुभाषचंद्र भेलके	५१
प्रो. सुरेन्द्र बारलिंगेजी के नीति-दर्शन का सारग्रहण	:	डॉ. तप्ती मैत्र	६५
प्रो. बारलिंगेजी की जगत् की अवधारणा	:	राजेन्द्र खटाटे	७३
ग्रंथ-समीक्षा	:	सुश्री वैशाली खांडेकर	७७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.